THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

जैन कथा साहित्य में प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन

RELIGIOUS LIFE AS REFLECTED IN JAINA KATHA LITERATURE

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्०

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

द्वारा

विजया मिश्रा (त्रिपाठी)

शोध पर्यवेक्षिका

डा० पुष्पा तिवारी

व्याख्याता

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1993

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **"जैन कथा साहित्य में प्रतिबिंबित धार्मिक जीवन"** डी० फिल उपाधि हेतु **विजय मिश्रा (त्रिपाठी)** की मौलिक कृति है एवं मेरे निर्देशन में पूरी की गयी है।

पुष्पा तिवारी

डॉ० पुष्पा तिवारी
व्याख्याता
प्राचीन इतिहास संस्कृति, एवं पुरातत्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

समर्पण

परम पूज्य पिता

स्वर्गीय श्री शिवयत्न प्रसाद त्रिपाठी

को

आदर सहित

प्राक्वक्तव्य

जैन कथा साहित्य पूर्वमध्यकालीन इतिहास के अध्ययन के लिये विशेष उपयोगी रहा है। जिसके अन्तर्गत राजस्थान, गुजरात और समीपवर्ती क्षेत्रों के ऐतिहासिक, सामाजिक आर्थिक तथा धार्मिक जीवन का महत्वपूर्ण योगदान रहा है. आठवी शताब्दी ई. भारतीय सांस्कृतिक तत्वों के संक्रान्ति काल का परिचायक कहा जा सकता है। जिसके सन्धिकाल मे प्राचीन तथा मध्यकालीन दोनो व्यवस्थाये परस्पर मिश्रित हुई प्रतीत होती है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध पांच अध्यायो मे विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय मे कथा साहित्य को ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ कथाओं के विविध रूपों मे यथा—धर्मकथा, अर्थकथा और कामकथा आदि के रूप में उल्लिखित किया गया है। द्वितीय अध्याय में सामायिक समाज व्यवस्था को आधार रूप दिया गया है। वर्ण, जाति एवं उपजातियो के अध्ययन के साथ-साथ विविध सामाजिक सस्थाओ का भी अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय रहा है और उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर विषय का विवेचन करने का भरपूर प्रयास किया गया है। सामाजिक जीवन के साथ-साथ तत्कालीन जीवन में अर्थ व्यवस्था का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है और इसी को लक्ष्य कर आर्थिक जीवन से सम्बन्धित विविध महत्वपूर्ण तत्वो का अध्ययन शोध प्रबन्ध का विषय रहा है।

सामाजिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, जैन कथाओ में वर्णित धार्मिक जीवन, इस शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय का प्रमुख विषय रहा है। जैन कथाओं में वर्णित धार्मिक जीवन ने समकालीन कला एवं स्थापत्य को प्रभावित किया जिसका विवेचन शोध प्रबन्ध के चौथे अध्याय मे किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण मे मै सर्वप्रथम अपनी शोध पर्यवेक्षिका आदरणीया डा. पुष्पा तिवारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं जिनके कुशल निर्देशन एवं प्रोत्साहन के बिना शायद यह कार्य संभव नहीं था।

श्रद्धेय प्रोफेसर विद्याधर मिश्रा, डा. जय नारायण पाण्डेय एवं डा. वनमाला मधोलकर, एवं डा. डी. मंडल, आर्चायजन, प्राचीन इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति हार्दिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे, अपना स्नेह शुभाशीष, प्रोत्साहन एवं निर्देशन दिया।

अततः मै श्री चक्रपाणि मणियार, श्री रजनीश एवं अपने परिवारजनों के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने इस कृति को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में विविध रूप मे सहयोग दिया।

विजया मिश्रा (त्रिपाठी)

अनुक्रम

अध्याय			*पृष्ठ सं.*
१.	जैन कथाओं का ऐतिहासिक परिचय	...	१-२४
२.	जैन कथा—साहित्य की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि	...	२५-८९
३.	जैन कथा—साहित्य में प्रतिबिम्बित धार्मिक जीवन	...	९०-१७९
४.	मूर्तिशिल्प और स्थापत्य	...	१८०-२०१
५.	उपसंहार	...	२०२-२१०
६.	सन्दर्भ ग्रंथ सूची	...	२११

अध्याय 1

जैन कथाओं का ऐतिहासिक परिचय

प्राचीन काल से ही कथा-साहित्य का मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कथा कहानियां मानव के मनोरंजन एवं ज्ञानवर्धन का स्त्रोत रही हैं। वैदिक साहित्य में हालांकि कथा, आख्यान, या उपाख्यान आदि में से कोई शब्द नहीं पाया जाता परन्तु 'ऋग्वेद' में स्तुतियों के रूप में कहानी के मूलतत्व पाये जाते हैं।[1]" ब्राह्मण ग्रन्थों में भी, जैसे शतपथ ब्राह्मण की पुरूरवा और उर्वशी की कथा का उल्लेख मिलता है। उपनिषत्काल में गार्गी, याज्ञवल्क्य सवांद, सत्यकाम-जावाल एवं जनश्रुति के पुत्र राजा जानश्रुति की कथा का उल्लेख मिलता है।[2]" रामायण और महाभारत विशेषत: महाभारत बहुत सी कहानियों का कोश है। इस प्रकार वैदिक एवं महाकाव्यकालीन साहित्य हृदयग्राही, प्रेरक रोचक का मनोरजंक कथाओं से समृद्ध है। कालांतर में बौद्ध एवं जैन धर्मो के आविर्भाव एवं विकास के साथ इन धर्मो के साहित्य का भी विकास परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ, बौद्ध जातक कथायें एवं पंचतन्त्र की रोचक कहानियां। ये कथायें पालि एवं संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। गुणाढ्य की वृहत्कथा कहानियों का भण्डार है। इसकी भाषा पैशाची प्राकृत है।

प्राकृत कथाओं का अभिक्रम आगम ग्रन्थों में उपलब्ध है। जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान महावीर की शिक्षाओं को आगम कहा गया है इन आगमों को 'श्रुतज्ञान' अथवा सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है।[3]" जैन परम्परा के अनुसार, अर्हत भगवान ने आगमो का प्ररूपण किया और उनके गणधरों ने इन्हे सूत्ररूप में निबद्ध किया।[4]" आगम साहित्य की भाषा अर्ध मागधी है, जबकि एक अन्य टीकाकार हेमचन्द्र ने इसे आर्ष प्राकृत या प्राचीन प्राकृत भाषा माना है।[5]" आगम साहित्य में धार्मिक शिक्षाओं को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया

है। कथा साहित्य के आलोचकों के अनुसार "साहित्य के माध्यम से डाले जाने वाले जितने प्रभाव हो सकते हैं, वे रचना के इस प्रकार में इस तरह से उपस्थित किये जा सकते हैं, चाहे सिद्धांत प्रतिपादन अभिप्रेत हो, चाहे चरित्र-चित्रण सुन्दरता इष्ट हों, किसी घटना का महत्व निरुपण करना हो अथवा किसी वातावरण की सजीवता का उद्घाटन ही लक्षय बनाया जाय, क्रिया का वेग अंकित करना हो या मानसिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण करना इष्ट हो—सभी कुछ इसके द्वारा सम्भव है"।[6] अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत कथाओ का आर्विभाव आगम साहित्य से हुआ है।

प्राकृत कथा साहित्य के विभिन्न आलोचकों द्वारा इसके विकास का आकलन कालक्रमानुसार किया गया है। नेमिचन्द्र शास्त्री ने हरिभद्र को केन्द्र मानकर जैन पाकृत-कथा साहित्य को पाँच कालखण्डों ने विभक्तकर, विभिन्न कथा-ग्रन्थों का विस्तृत विश्लेषण किया।[7]" **यह वर्गीकरण इस प्रकार है:**—आगमकालीन प्राकृत कथा साहित्य, टीकाकालीन प्राकृत कथा साहित्य, पूर्व हरिभद्र कालीन स्वतन्त्र प्राकृत कथा साहित्य, हरिभद्र कालीन प्राकृत कथा सहित्य उत्तर हरिभद्रकालीन प्राकृत कथा-साहित्य।

कथा साहित्य के विकासक्रम को दृष्टि से कथा का विकास असम्भव से दुर्लभ, दुर्लभ से सम्भव और सम्भव से सुलभ की ओर होता है। आगमकालीन कथाओं में वैभव का निरूपण व्रतों, आचारों, अतिचारों, परिमाणों के स्थूल चित्रण, चरित्र की शुद्धता आदि पर अत्यधिक बल दिया गया है। आगमकालीन कथा साहित्य में **नायाध्मकहाओ** का महत्वपूर्ण स्थान है, इनमें त्याग, संयम, एवं तप आदि धार्मिक उपदेशों को उदाहरण, रूपक, सवांद और उपमाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। धन्यसार्थवाह और उनकी चार बहुओं की सुन्दर लोककथा द्वारा कल्याण मार्ग का उपदेश दिया गया है। जिन पालित और जिनरक्षित के वार्तालाप में संसार के प्रलोभनों से बचने के लिए प्रात्साहित करने का उपदेश है। **सूत्रकृतांग** धार्मिक उपदेशों से युक्त एक अन्य कृति है। इसीकाल का एक अन्य धार्मिक काव्य **उत्तराध्ययन** सूत्र है, जिसमें उपमा और दृष्टांत आदि के माध्यम से त्याग और वैराग्य का उपदेश दिया गया है।

जयघोष, राजमती सवांद, केशीगौतम का सवांद आदि अनेकों आख्यान और सवांद इस सूत्र में पाये जाते हैं। आगमिक प्राकृत कथाओं में कुछ कथाएं तो परपरागत रूप से जैन धर्मानुमोदित है जबकि कुछ अन्य भारतीय कथा के नैतिक, धार्मिक कोश से जैन धर्म घटित कर लिखी गयी हैं। सामान्यतः इन कथाओं में नेमि, पार्श्व, और महावीर इन तीन तीर्थकरों के जीवन चित्र चित्रित है। ए. एन. उपाध्ये ने आगमकाल की कथाओं के विश्लेषण में बताया है—"आरम्भ में, जो मात्र उपमाये थी, उनको बाद में व्यापक रूप देने और धार्मिक मतावलम्बियों के लाभार्थ उससे उपदेश ग्रहण करने के निमित्त उन्हें कथात्मक रूप प्रदान किया है"। नायाधम्मकहाओ में सुन्दर उदाहरण आये हैं। जैसे कछुआ अपने अंगों की रक्षा के लिये शरीर को सिकोड़ लेता है, लौकी कीचड़ से आच्छादित होने पर जल में डूब जाती है और नन्दी फल के वृक्ष हानिकारक होते हैं। ये विचार उपेदश देने के उद्देश्य से व्यवहृत हुये हैं। ये चित्रित करते हैं कि अरक्षित साधु कष्ट उठाता है, तीव्रोदयी कर्मी परमाणुओं के गुरुतर भार से आच्छन्न व्यक्ति नरक जाता है और जो विषयानन्द का स्वाद लेते है; अन्त में वे दुःख प्राप्त करते हैं। इन्हीं आधारों पर उपेदश प्राधान कथा में वर्णनात्मक रूप में या जीवन्त वार्ताओं के रूप में पल्लवित की गयी है।[8]" टीका कालीन प्राकृत कथा साहित्य में मुख्यतः आगमों की व्याख्यायें प्रस्तुत की गई है। आगमों की कुछ; **संघ दास गणि क्षमा श्रमण** रचित निशीथ भाष्य, कल्प भाष्य व व्यवहार भाष्य; जिनदासगणि महत्तर रचित चुर्णियां आदि है। निर्युक्ति साहित्य में कथानक, उदाहरण, दृष्टान्त आदि को गाथाओं, के रूप संग्रहीत किया गया है। इनमें, गांधार श्रावक, तोसिलपुत्र, स्थूलभद्र, कालक, करकंडू, मृगापुत्र, भृगावती आदि धार्मिक एवं पौराणिक आख्यानों का स्वतंत्र कथा ग्रन्थों के रूप में सृजन किया गया है। मुख्यतः दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्तियां प्राप्य है। पिण्ड, ओघ और आराधना अपने में स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। स्वतंत्र निर्युक्तियों में प्रथम दो[9]" 'दशवैकालिक' और 'आवश्यक' निर्युक्ति की पूरक है। तृतीय का उल्लेख मूलाचार से प्राप्त होता है[10]" निर्युक्ति, भाष्य एवं टीकाओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि भाष्य एवं टीकायें, कथाओं के सन्दर्भ में निर्युक्तियों से अधिक सम्पन्न है।

भाष्य साहित्य में भी, निर्युक्ति की भांति संक्षिप्त शैली में अनेक कथानक और दृष्टान्तो द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है। भाष्य साहित्य का सृजन जैन सन्यासियों द्वारा भाष्य साहित्य को अन्तिम रूप देने के पूर्व की गई। भाष्य साहित्य की प्रमुख रचनाओं यें संघदास गणी क्षमाश्रमण रचित निशीथभाष्य, कल्प भाष्य और व्यवहार भाष्य आदि है। धूर्तो के मनोरंजक आख्यान भी इस साहित्य ये उपलब्ध है। भाष्य युगीन कथायें, मुख्यत:, शैली की विशेषता, विविधता एवं नवीनता आदि कारणों से अपना एक अलग स्वरूप प्रतिबिंबित करती है। सामान्यत: साहित्य का भाष्य युग विकास की उस स्थिति का सूचक है जब रचना की प्रक्रिया में मौलिकता को जन्म देने वाली प्रवृतियां विकसित होने लगती है।

आगमों पर आधारित व्याख्या साहित्य में चूर्णियों का महत्वपूर्ण स्थान है। वे चूर्णियां गद्य में लिखी गई है। जैन धर्म को विस्तार से प्रतिपादित करने के लिये सम्भवत: पद्य रचित नियुक्ति एवं भाष्य साहित्य में अधिक गुजांइश नहीं थी।[11] चूर्णियों में प्राकृत की अनेक लौकिक एवं धार्मिक कथायें समाहित है। इन चूर्णियों की भाषा केवल प्राकृत न होकर संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। परिणामास्वरूप, सुग्राहय होने के कारण चूर्णी साहित्य, का क्षेत्र निर्युक्ति एवं भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत था चूर्णियों में विशेषत: निशीथ की विशेष चूर्णी एवं आवश्यक चूर्णी में जैन पुरातत्व से सम्बन्धित सामग्री एवं जैनाचार्यो की जनसम्पर्क प्रवृति एवं उनकी व्यापक अध्ययनशीलता पर प्रकाश पड़ता है। जिनदासगणि महत्तर द्वारा रचित इन चूर्णियों के सृजन का समय छठी शताब्दी ईसवी-सन् के आसपास माना जाता है।[12]"

आगम साहित्य को समझने में टीकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों की भाँति आगमों पर भी विस्तृत टीकायं लिखी गयी हैं। यद्यपि टीकाओं की भाषा संस्कृत है फिर भी टीकाओं का कथा सम्बन्धी अंश प्राकृत में भी उद्धृत है। हरिभद्रसूरि जिनका समय लगभग 705-775 ईसवी सन् है प्रमुखत: टीकाकारों में उल्लेखनीय है। हरिभद्रसूरी ने आवश्यक देशवैकालिक बन्दी, और अनुयोग द्वार पर टीकायें लिखी। तत्पश्चात् शीलांकसूरि

ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत में टिकायें लिखी। वादिवेताल शान्तिसूरि, नेमिचन्द्रसूरि, मलयगिरि आदि आचार्यों को टीकाकारों में गिना जाता है, जिन्होंने प्राकृत भाषा में टीकायें की।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आगम सिद्धांतों पर व्याख्यात्मक साहित्य का प्रचुरता से निर्माण हुआ जिसके फलस्वरूप एक अलग आगम कालीन साहित्य का निर्माण हुआ। आगमकालीन साहित्य ने अपने उत्तरकालीन साहित्य के निर्माण में योगदान दिया। इस योगदान के परिणामस्वरूप प्राकृत भाषा का चरित-साहित्य, धार्मिक साहित्य कथा-साहित्य उत्तरोत्तर विकसित होकर अधिकाधिक समृद्ध होता गया। जैन प्राकृत कथा साहित्य के आलोचकों एवं समीक्षको के अनुसार कथाकारों के चरित्र-सृष्टि की सजगता पूर्वहरिभद्रयुगीन कथाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। इससे पहले की कथाओ के पात्रों के चरित्र का कथात्मक उत्कर्ष, ही पाया जाता है। संभवतः इसका कारण इन पात्रों का समाज के विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करना है। चरित्र दृष्टि हरिभद्र के पूर्व कालीन कथाओं में नहीं है। चरित सृष्टि के लिये आवश्यक व्यापक आधार फलक पूर्वहरिभद्रकालीन **तरंगवती** (तरंगवईकहा) **वसुदेवहिण्डी** और **पऊमचरियं** कथा कृतियों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। वस्तुतः प्राकृत कथा-साहित्य में पौराणिक शैली से भिन्न आख्यायिका पद्धति पर किसी एक लोकप्रसिद्ध स्त्री अथवा पुरुष की जीवन घटना को केन्द्र मानकर काव्यमय शैली में श्रृंगार करुण आदि रसों से अलंकृत करते हुये वैराग्य उत्पन्न करने वाले कथा ग्रन्थ लिखे गये यद्यपि आख्यायिका शैली का सम्यक विकास हरिभद्र काल में ही पाया जाता है फिर भी तरंगवती कथा कृति इस शैली के सभी गुणों से परिपूर्ण है।

हरिभद्रयुगीन प्राकृत कथा-विकास की दृष्टि से कथा-साहित्य का स्वर्ण युग है। इस काल में वस्तु और रूप या शिल्प का एकान्वयन स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस युग से पूर्व शिल्प कथाओं में बाहर से अरोपित प्रतीत होता था, परन्तु अब इन दोनों में तादात्म्य

स्थापित हो गया था। आलोचकों का मानना है कि यह कथा चेतना का सबसे महत्वपूर्ण विकास है जो हरिभद्र के अनन्तर कथाओं में बराबर बना रहा।[14] हरिभद्रयुगीन प्राकृत कथा साहित्य में वस्तु के अनुसार शिल्प गठन एक स्वीकृति सत्य है। यह प्रवृत्ति कथा वस्तु के साथ एक अभूतपूर्व संगति के रूप में पुनः प्रकट हुयी है, जो तरंगवईकथा के पश्चात लुप्तप्राय हो गयी थी। इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता कथा की निष्ठा का विकास है। निष्ठा का अर्थ है कथा साहित्य को एक-पूर्ण, समर्थ साहित्यिक विधामानकर उसकी व्यवस्था की चेतना। इस निष्ठा का पहला रूप है व्यंग्य और हास्य की सूक्ष्मता का समा हार तथा आलोचनात्मक दृष्टि का समन्वय। व्यंग्य और हास्य में धार्मिक उपयोगिता वाद से भिन्न एक विशुद्ध कलात्मक उपयोगितावाद की स्थापना, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धियाँ आर मनोरंजन के साथ धर्मतत्व की प्राप्ति आदि सम्मिलित है कथाओं का वर्गीकरण कथानक रूढियों का बहुल प्रयोग और लोक-कथाओं का अभिजात्य कथाओं के रूप में परिवर्तन निष्ठा का दूसरा रूप है। हरिभद्र के समय के में सम्बन्ध में चार मान्यतायें प्रसिद्ध हैं। परम्परागत मान्यता के अनुसार हरिभद्र का स्वर्गारोहण का काल ईसवी सन् 527 माना जाता है।[15] मुनिजिन विजय जी के अनुसार 700-770 ईसवी सन् है,[16]" जबकि आभ्यंकर ने विक्रमी संवत् 800-950 तक हरिभद्र का समय माना है।[17],, महेन्द्रकुमार जी के अनुसार आचार्य हरिभद्र का समय ई. सन् 720 से 810 तक माना गया है।[18]" इन मतो के विश्लेषण के आधार पर आलोचकों ने हरिभद्र का समय 730-830 ई. तक माने जाने की संस्तुति की है।[19]" हदिभद्र के प्राकृत कथाओं में **समराइच्चहा,** और **धूर्ताख्यान** प्रमुख स्थान रखते हैं। इन कथाग्रन्थों के अतिरिक्त टीका और चूर्णियों में उदाहरण के रूप में हरिभद्र ने अगणित दृष्टान्त कथाओं की रचना की समराइच्चकहा में प्रतिशोध भावना की प्रधानता है एवं यह भावना विभिन्न रूपों में व्यक्त हुयी है। समराइच्चकहा में नायक सदाचारी और प्रतिनायक के नौ जन्मों तक चलने वाली जीवन-संघर्ष की कथा लिखी गयी हैं। जबकि धूर्ताख्यान व्यंग्य प्रधान रचना है। इसमें पुराणों में वर्णित असम्भव और अविश्वसनीय बातों का पाँच धूर्तो की कथाओं द्वारा प्रत्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। उल्लेखनीय है कि इस रचना

में व्यंग्य ध्वंसात्मक न होकर निर्माणात्मक है। हरिभद्र की दस वैकालिक टीका में 30 महत्वपूर्ण प्राकृत कथायें और उपदेश पद में लगभग 70 प्राकृत कथाओं का उल्लेख है।

हरिभद्र के बाद प्राकृत कथा साहित्य अपनी समस्त पूर्व अर्जित क्षमताओं तत्वों और गुणों के साथ विकसित हुआ। इस काल में मुख्यत: चार श्रेणियों में प्राकृत कथायें लिखी गयी। मुख्यत: उपदेश, आख्यायिका, धार्मिक उपन्यास और चरित, चार श्रेणियों में लिखी गयी है। इन श्रेणियों की कथाओं के लिय स्थापत्य के विविध मानदण्ड एवं निश्चित रूप रेखायें स्थापित हुयी हैं। आलोचकों के अनुसार इस युग में मुख्यत: तत्व प्रधानता की पवृति दृष्टिगोचर होती है। उत्तर हरिभद्रयुगीन कथा साहित्य में व्रत और पूजा विधान की महत्ता द्योतक कथायें लिखी गयी, जिनका उद्देश्य जनता में व्रत और चरित्र का प्रसार करना था। हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि रचित **कुवलयमाला** इस युग की प्राकृत कथा साहित्य का महत्वपूर्ण कथा-कृति है। इसके अतिरिक्त **चउप्पन्न-महापुरिस-चरियं, सुरसुन्दरी-चरियं, कथा कोशप्रकरण, निर्वाण लीलावती कथा, नागपंचमी कहा, महावीरचरियं, कुहारयणकोस** आदि इस युग की महत्वपूर्ण कथा कृतियां है। इनमें से अधिकांश की मूल कृतियां विलुप्त है। इस प्रंकार प्राकृत जैन कथा साहित्य आगमों से लेकर 16 वीं श. तक विकसित होता रहा है।

प्राकृत कथा साहित्य का काल और कथाओं के रूप

प्राकृत कथा साहित्य का काल स्पष्ट रूप से पाँचवीं शताब्दी ईसवी से प्रारम्भ होकर 16-17वीं शताब्दी तक अस्तित्व में रहा है। इसमें कथा, उपकथा, अन्तर्कथा, दृष्टांत, आख्यान, आख्यायिका, उदाहरण आदि के भेद से कथाओं के विविध रूप प्रकट होते हैं। कथाओं को हृदय ग्राह्य और रूचिकर बनाने के लिये उनमें विभिन्न प्रकार के संवाद, बुद्धिमत्ता की परीक्षा उत्तर-प्रत्युत्तर हेलिका, प्रहेलिका, समस्या पूर्ति, सुभाषित, सूक्ति, कहावत तथा गीत, प्रगीत, विष्णु गीतिका, चर्चरी, गाथा, छंद आदि का उपयोग किया गया है।

हरिभद्र सूरि ने **समराइच्चकहा** में सामान्य रूप से अर्थ कथा, काम कथा, धर्म कथा और संकीर्ण कथा के भेद से कथाओं का विभाजन चार वर्गों में किया है।[20]" अर्थोपार्जन की ओर प्रवृत्त करने वाली कथा को अर्थकथा, काम की ओर प्रवृत्त करने वाली कथा को काम कथा, अन्तः करण और शरीर की कोमलता और सरलता (आर्जवम, मार्दवम) आदि की ओर आकर्षित करने वाली और धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा और श्रद्धा उत्पन्न करने वाली कथा को धर्म कथा तथा धर्म, अर्थ, और काम से समावेशित कथा को संकीर्ण कथा कहा है।

धर्म कथा के चार भेद बतलाये गए हैं :— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी।[21]" मन के अनुकूल विचित्र और अपूर्व अर्थवाली कथा को आक्षेपणी, कुशास्त्रों की ओर से उदासीन करने वाली मन के प्रतिकूल कथा को विक्षेपणी, ज्ञान की उत्पत्ति के कारण, मन को मोक्ष की ओर ले जाने वाली कथा को संवेदनी, तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहा गया है।

हेम चन्द्र आचार्य ने आख्यायिका और कथा में अन्तर स्पष्ट किया है।[22]" आख्यायिका में उच्छवास होते हैं और वह गद्य में लिखी जाती है, जैसे हर्ष चरित कथायें गद्य और पद्य दोनों में पायी गयी हैं। ये कथायें संस्कृत, प्राकृत, मगधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश भाषाओं में लिखी गई है। उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवहलिका, मंथल्लिका, मणि कुल्या, परि कथा, खंड कथा, सफल कथा और बृहत कथा के ये भेद बतलायें गये हैं[23]। हरिभद्र का **धूर्ताख्यान** हास्य, व्यंग्य और विनोद का कथा ग्रंथ है। हरिभद्र सूरि का उपदेशापद धर्म कथानुयोग की एक दूसरी रचना है। कुवलय माला के कथाकार उद्योतन सूरि (779 ई.) एक समर्थ रचनाकार थे। सुदंसणा चरित्र के रचनाकार देवेन्द्र सूरि ने रात्रि कथा, स्त्री कथा, भक्त कथा और जनपद कथा नाम की चार विकथाओं का त्याग करके धर्म कथा के श्रवण को हितकारी बताया है। इसके अतिरिक्त जिनेश्वर सूरि का **कथा कोष प्रकरण**, नेमिचन्द्र सूरि और वृत्तिकार आम्रदेव सूरि का **आख्यान मणि कोष**, गुण चन्द्र गणि का **कथा रत्न कोष** तथा प्राकृत कथा संग्रह आदि की रचनायें कथाओं की भण्डार हैं।

नवीन जैन लेखकों के अनुसार ब्राह्मण और वैदिक धर्मशास्त्रों और पुराणों के प्रति लोग उदासीन हो रहे थे। अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण कहानियों से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हुये थे[24]। विमल सूरि के अनुसार वाल्मीकि रामायण के बहुत से अंश काल्पनिक और विश्वास योग्य नहीं हैं। अतएव उन्होंने **पउम चरिउ** की रचना की। इस रचना के पात्र विद्याधर, राक्षस और वानरवंश का परिचय देने के पश्चात् कथन करते हैं कि विजयाद्र्ध की दक्षिण दिशा में रघनपुर नाम के नगर में इन्द्र नाम का विद्याधर रहता था। इसने लंका पर विजय प्राप्त किया और अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। लंका के राजा रत्नश्रवा का विवाह कौतुक मंगल नगर के व्योम बिन्दु की छोटी पुत्री केकसी से हुआ था। रावण इनका पुत्र था। इसने वाल्यावस्था में बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी और इस सिद्धि से संपन्न होने से अपने शरीर को विभिन्न रूपों में परिवर्तित करने की क्षमता रखता था। रावण और कुंभकरण ने लंका के राजा इन्द्र और प्रभावशाली विद्याधर **वैश्रवण** को परास्त कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। खर दूषण रावण की बहन **चन्द्रनखा** का हरण कर ले गया और बाद में रावण ने अपनी बहन का विवाह खरदूषण के साथ कर दिया। वानर वंश के शासक **वलि** ने संसार का त्याग करके अपने छोटे भाई सुग्रीव को राज्य का कार्यभार सौंप कर दिगम्वर दीक्षा कर लिया और कैलास पर्वत पर तपस्या करने लगा। अयोध्या में भगवान ऋषभ देव के वंश में अनेक राजा हुये, सबने **प्रब्रज्या** ग्रहण कर तपस्या की और मोक्ष की प्राप्ति की। इस वंश के राजा रघु को अरण्य नामक पुत्र हुआ, इसकी रानी का नाम पृथवी मति था। इनके दो पुत्र हुये अन्तरथ और दशरथ। **पउम चरिउ** की विषय वस्तु के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और पौराणिक ग्रन्थों के विरुद्ध इस प्रकार के कथानकों को रचकर एक काल्पनिक कथावस्तु की रचना की गयी।

जैन मुनियों को श्रृंगार की कथाओं के सुनने और सुनाने का निषेध था, परन्तु इसके विपरीत पाठकों को सामान्यतः ऐसी कहानियों को सुनने में श्रवण सुख की प्राप्ति होती थी। वासुदेवहिण्डी के रचयिता के विचार इस प्रकार है:—

"सोऊण लोइयाणं णरवाहन इन्तादीणं कहाओ

कमियाओ लोगों एगंतेण काम कहासु

रज्जंति। सोग्गइपह देसियं पुण धम्मं सोंउ

पि नेच्छति य जरपिन्तवस कडुप मुहो इव गुल सक्कर

खंड मच्छं-डियाइसु विपरी परिणामों। धम्मत्थकामपाण यमूलं धम्मों, तम्मि या मंदतरो जणो,"

तं जह णाम कोई वेज्यो आउर अभयउसह-पाणपरंमुहं ओसढमिति उव्विलयं मणोमिलसिय-पाणवव एसेण उसहं तं पज्जेति।

"काम कहा रतहितपस्स पणस्स सिंगार कहा वसेण धम्मं चेव परि कहेमि[25]"।

"नरवाहन दत्त आदि लौकिक काम-कथायें सुनकर लोग एकांत में काम कथाओं का आनन्द लेते थे। ज्वरपित्त से यदि किसी रोगी का मुंह कडुआ हो जाये तो जैसे गुड़ शक्कर, खॉड़ मत्स्यंडिका (बूरा) आदि भी कड़वी लगती है, वैसे ही सुगति को ले जाने वाली धर्म को सुनने की लोग इच्छा नहीं करते। धर्म, अर्थ और काम से ही सुख की प्राप्ति होती है, तथा धर्म, अर्थ और काम का मूल है धर्म और इसमें लोग मंदतर रहते है। अमृत औषध को पीने की इच्छा न करने वाले किसी रोगी को जैसे कोई वैद्य मनोभिलाषित वस्तु देने के बहाने उसे अपनी औषधि भी देता है, उसी प्रकार जिन लोगों का हृदय काम कथा के श्रवण करने में संलग्न है, उन्हें श्रृंगार कथा के बहाने मैं अपनी इस धर्म कथा का श्रवण कराता हूँ।"

जैन विचारकों और चिन्तकों ने आध्यात्मिक ग्रंथों में श्रृंगार रस से ओत-प्रोत प्रेमाख्यानों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया एवं मदन उत्सवों के वर्णन संयोजित किये इन उत्सवों के अवसरों पर युवक कुमारियों को देखकर अपने आप को भूल कर कामज्वर से ग्रस्त हो जाता

था युवतियों की भी यही दशा होती थी। गुप्त रूप से प्रेम पत्रों का प्रकरण प्रारम्भ होता था। तत्पश्चात प्रेमी और प्रेमिका का विवाह सम्पन्न हो जाता था। स्वयंवर का भी आयोजन होता था। **वसुदेव हिण्डी** का पात्र धम्मिल कुमार प्रेम क्रीड़ा में कुशलता प्राप्त करने के लिये वसंत सेना नाम की गणिका के घर पर ही समय व्यतीत करने लगा था। **कुवलयमाला** में भी प्रेम और श्रृंगार रस पूर्ण बहुत से चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। वासभवन में प्रवेश करते समय **कुवलयमाला** और सहेलियों में प्रश्नोत्तर का क्रम चलता है। **कथाकोष प्रकरण** में भी प्रेमालाप के प्रसंगों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राकृत कथा संग्रह में भी सुर सुंदरी का आख्यान एक प्रेमाख्यान है।

कथा-साहित्य में 11वीं-12वीं शताब्दी ईसवी में तान्त्रिकों का जोर प्रदर्शित होता है। कापालिक और वाममार्गी श्री पर्वत से जालंधर तक भ्रमण करते थे। **कुवलयमाला** में सिद्ध पुरूषों का वर्णन है। धातुवादी, क्रियावादी तान्त्रिक विद्या का सहारा लेकर विविध प्रकार की तान्त्रिक करतूतों का प्रदर्शन करते थे। **सुर सुन्दरी चरिउ** में भूत भगाने और रक्षा पोटली बांधने का वर्णन है।

कथा-साहित्य की भाषा

जैन कथा-साहित्य का सृजन मुख्यतः प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में किया गया है। महेश्वसूरि के मतानुसार बोधगम्य प्राकृत काव्य की रचना इसलिये की गई क्योंकि अल्पबुद्धि वाले लागों को संस्कृत ग्राहय नहीं थी। प्राकृत भाषा की इन रचनाओं को हर्मन जैकोबी ने महाराष्ट्री-प्राकृत कहा है। धर्मोपदेश माला विवरण में महाराष्ट्री भाषा की कामिनी और अटवी के साथ तुलना करते हुये, उसे सुललित पदों से संपन्न, कामोत्पादक तथा सुन्दर वर्णो से शोभित बताया है[26]। प्राकृत के इन ग्रन्थों में कई स्थानों पर सूक्तियों सुभाषितों से काम लिया गया है। देशी भाषा के बहुत से शब्द कई स्थलों पर उपयोग किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप सुयर पिल्लव; सुअर का पिल्ला (वसुदेव हिण्डी), छोयर (छोकरा; उपदेशपद), जोहार (जुहार; धर्मोपदेश माला), चिडम (चिड़िया; ज्ञान पंचमी कहा) नाहर (सिंह; सुदसंण चरिये) आदि।

नवीं-दसवीं, शताब्दी के पूर्व जैन-कथा-साहित्य के रचयिताओं के द्वारा रचित कथा-साहित्य की संख्या बहुत अल्प थी, ॥ वीं से 12 वीं शताब्दी के लेखकों में एक नवीन जागृति का आविर्भाव हुआ जिसके परिणाम स्वरूप दो-तीन सौ वर्षो के अन्दर बहुत से नये कथा-ग्रंथो की रचना हुयी। इन लेखकों ने अद्‌र्धमागधी आगमों के आधार पर अपनी रचना-कृतियों का प्रारम्भ किया। ये लेखक संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं के प्रकाण्ड विद्धान्‌ थे। इन विद्वानों ने अपनी साहित्यिक कृतियों में व्याकरण, अलंकार, छंद और ज्योतिष शास्त्र को लिखकर साहित्य को समृद्ध बनाने में योगदान किया। जैन विद्धान अपने भ्रमण काल में जहां भी जाते थे, उस स्थान की जीवन-प्रणाली, भाषा तथा प्रचलित रीति-रस्मों का अवलोकन कर अपनी रचनाओं में स्थान देते थे।

गुप्तकाल में संस्कृत के पुनरूत्थान होने पर प्राकृत के अध्ययन में गिरावट आने लगी एवं संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुयी। धर्मशास्त्र, पुराण, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, नाटक, ज्योतिष और अन्य विषयों पर संस्कृत में साहित्यिक कृतियों की रचनायें हुयीं। सिद्धर्षि ने 905 ई. में **उपमितिभव प्रपंच कथा**, धनपाल ने **तिलक मंजरी** और हरिषेण ने **बृहत्कथा कोष** जैसे साहित्यिक-कृतियों की रचना संस्कृत में किया है। इस काल में, सिद्धर्षि के अनुसार अभिव्यक्ति की दो मुख्य भाषायें संस्कृत एवं प्राकृत है। इनमें संस्कृत दुर्विदग्धों के मन में स्थित है। उन्हें अज्ञजनों को सदबोध करने वाली कानों को मधुर लगने वाली प्राकृत भाषा अच्छी नहीं लगती। तथा उपायान्तर रहने पर सबका मनोरंजन करना चाहिये, अतएव ऐसे लोगों के अनुरोध से यह रचना संस्कृत में लिखी जाती है। "अतस्तद नुरो येन संस्कृतेयं करिष्यते"[27]। प्राकृत से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशो का विकास हुआ एवं दसंवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाओं का क्रम प्रारम्भ हुआ। इन रचनाओं में विभिन्न देश एवं काल में प्रचलित देशी भाषा, मुख्यतः, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी आदि लोक भाषाओं के शब्दों का सम्मिश्रण पाया जाता है। जैन कथा सहित्य की महत्ता के वल संस्कृत एवं अन्य भारतीय

भाषाओं के अध्ययन में ही नहीं हैं, वरन् ये भारतीय सभ्यता के इतिहास पर भी प्रकाश डालती है।[28]

कथा ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय

जैन प्राकृत कथा साहित्य में वर्णित महत्वपूर्ण कथा कृतियों का संक्षिप्त परिचय निम्न है।

तरंगवती कथा:—पदलिप्त सूरि सर्व प्रथम जैन विद्वान हुये जिन्होंने **तरंगवती कथा** ग्रंथ की रचना की। प्राकृत कथा-साहित्य की यह रचना सबसे प्राचीन है। तरंगवइकार के रूप में इसके कर्ता का विवरण अनुयोग द्वार सूत्र (130) में प्राप्त होता है। निशीथ की विशेष चूर्णि में लोकोन्तर धर्म कथाओं में तरंगवती के साथ मलयवती और मगधसेना के नामों के वर्णन है। इस समय यह कथा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र इसके जो उल्लेख या तरंगलीला नाम का जो संक्षिप्त रूप उपलब्ध है। विशेषाश्यक भाष्य में इसका उल्लेख इस प्रकार है:—

जहवा निदिट्ठवसा वासव दन्ता तरंगवाइयाई[29]।

दशवैकालिक चूर्णि (3, पृ. 109) और जिनभद्र-गणि क्षमाश्रमण के **विशेषावश्यक भाष्य** (गाथा 1508) में तरंगवती का उल्लेख प्राप्त होता है। जिन दासगणि ने दशवैकालिक चूर्णि में धर्मकथा के रूप में तरंगवती को निर्देश दिया है।

वासुदेव हिण्डी

वासुदेव हिण्डी में कृष्ण के पिता वासुदेव के भ्रमण का वृन्तान्त है, इसलिये, इसे **वासुदेव-चरित** नाम से भी कहा गया।

आगम बाह्य ग्रन्थों में यह कृति कथा साहित्य में प्राचीनतम गिनी जाती है। **वासुदेव हिण्डी** का भारतीय कथा साहित्य में ही नहीं, बल्कि विश्व कथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान

है[30]। इसमें हरिवंश की प्रशंसा की गई है। इस ग्रंथ में दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में 29 लंभक, 11000 श्लोक प्रमाण हैं। दूसरे खण्ड में 71 लंभक 17,000 श्लोक प्रमाण हैं।

प्रथम खण्ड के कर्ता संघदासगणि वाचक और दूसरे के धर्मसेनगणि हैं। जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण विशेषणवतीं में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, इससे संघदासगणि का समय लगभग पांचवीं शताब्दी माना जाता है। प्रथम खण्ड[31] के बीच का और अन्त का भाग खंडित है।इसमें कथा का विभाजन छः अधिकारों में किया गया है:—कहुपति, पीढिया, मुह, पडिमुह, सरीर और उवसंहार। कथोत्पन्ति के अन्त होने पर धम्मिल्ल हिण्डी का प्रारंभ होता है। धम्मिल शब्द की व्युत्पत्ति में कहा गया है कि कुसर्गपुर में जित शत्रु राजा अपनी रानी धरणी सहित राज्य करता था। इस नगरी में इन्द्र के समान वैभवशाली सुरेन्द्र दत्त नाम का सार्थवाह अपनी पत्नी सुभद्रा सहित सुख पूर्वक निवास करता था। इसके गर्भ के समय उसे दो हद उत्पन्न हुआ– "कमेण य से दोहने जातोसव्वभुतेसु अणुकप्प माणेणं धम्मियजणेण वच्छल्ल या दीणणुकम्पया बहुतरो य दाण पसंगों[32]"। अतएव स्पष्ट है कि इसकी माता को धर्माचरण के विषय में दोहद उत्पन्न हुआ था, इसी कारण पुत्र का नाम धम्मिल रखा गया[33]। धम्मिल हिण्डी का वातावरण सार्थवाहों के संसार से लिया गया है। इसे एक स्वतंत्र रचना कहा जा सकता है। इसके कथानक का सादृश्य नरवाहन दत्त और वासुदेव की तरह कई विवाहों पर आधारित है धम्मिल हिण्डी में शीलमती, धनश्री, विमलसेना, ग्रामीण गाड़ीवान, वसुदन्ताख्यान, रिपुदमन, नरपति कथानक हैं, इनमें लोक कथाओं के सभी लक्षण पाये जाते हैं। इसमें धनवन्त सार्थवाह के पुत्र धनवसु का लेखा-चित्रण हैं।

धम्मिल हिण्डी में सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण विवरण है। **वासुदेव हिण्डी (प्र० खं०)** में वर्णन है कि किस प्रकार वासुदेव, निन्दा के कारण अपने गृहनगर सोरिपुर को छोड़कर, भ्रमण के समय बहुत सी मानवीय और अति मानवीय कुमारियों से सम्बंध स्थापित किये। सन्यासियों और गृहस्थों के इस प्रकार के उदाहरण उपलब्ध होते हैं कि किस प्रकार "निदान" करके अति

प्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न हो जाते थे।[34] **धम्मिल हिण्डी** में इस प्रकार का वर्णन है कि किस तरह "आयम्बिल" ने छः मास तक "निदान" करके, वर्तमान जीवन में ही अपनी सांसारिक वास की पूर्ति की सिद्धि प्राप्त किया। कहानी में कहानी का चित्रण **वासुदेव हिण्डी** में स्पष्ट है। **वासुदेव हिण्डी** के वृन्तान्तों में कर्म सिद्धान्त (कम्म) को प्रकाशित करने के लिये पूर्व जन्म में बहुत से लोगों के जीवन वृन्तान्त पाये जाते हैं।[35] **गुणाढच की वृहत्कथा** की भांति इसमें श्रृंगार कथा की प्रमुखता होने पर भी बीच-बीच में धर्म का उपदेश दिया गया है। नरवाहन दत्त का विवाह जिस कन्या से होता है, उसी के नाम से लंभक है।[36] भाषा प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है जिसकी तुलना चूर्णी ग्रन्थों से की जाती है, देशी शब्दों के भी प्रयोग हुए हैं।[37] "दिस्सहे", "गच्छीय" "वहाए" "पिव" गेण्हेप्पि आदि रूप यहां मिलते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार इस कथा में निम्न विशेषताएं है :—

1. लोककथा के समस्त तत्वों की सुन्दर विवेचना है।

2. मनोरंजन के पूरे तत्व विद्यमान हैं।

3. अदभुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं और सार्थवाहों के षड़यन्त्र, राजतंत्र, छल-कपट, हास्य और युद्धों, पिशाचों एवं पशु-पक्षियों की गढ़ी हुई कथाओं का ऐसा सुन्दर कथा-जाल है कि पाठक मनोरंजन कूतूहल और ज्ञानवद्र्धन के साथ सम्यक् बोध भी प्राप्त कर सकता है।

4. सरल और अकृत्रिम रूप में आकर्षक और सुन्दर शैली द्वारा कथाओं को प्रस्तुत किया गाया है।

5. प्रेम के स्वस्थ चित्र भी उपलब्ध हैं।

6. कथा में रस बनाये रखने के लिए परिमिति और संतुलित शब्दों का प्रयोग किया गया है।

7. धर्म कथा होने पर भी इसमें चोर, विट, वेश्या, धूर्त, कपटी, ठग, लुच्चे और बदमाशों के चरित्र-चित्रण में लेखक को अद्भुत सफलता मिली है।

8.इन कथाओं का प्रभाव मन पर बड़ा गहरा पड़ता है।

9. तरंगति शैली में कृतघ्न कौऔं की कथा, वसन्त तिलका गणिका की कथा, स्वच्छंद चरित वाली वसुदत्ता की कथा एवं विमल सेना की कथा प्रभृति कथायें लिखी गयी हैं। इस कृति में लघु कथायें वृहत्कथाओं के संपुट में कटहल के कोओं की तरह सन्निवद्ध हैं।

10. लोक कथाओं की अनेक कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है।

11. कथाओं के मध्य में धर्म तत्व नमक की उस चुटकी के समान है जो सारे भोजन को स्वादिष्ट और सुखकर बनाता है।[38]

कहुप्पत्ति में जबू स्वामि चरित, जंवू और प्रभव का संवाद, कुवेर दन्त चरित, महेश्वर दन्त का आख्यान, वल्कल चीरि प्रसन्न चन्द्र का आख्यान, ब्राह्मण दारक की कथा, आणाढिय देव की उत्पत्ति आदि का वर्णन है। अन्त में वसुदेव चरित्र की उत्पत्ति बताई गयी है। इसके बाद धम्मिल के चरित्र का वर्णन आता है। विवाह होने के पश्चात भी धम्मिल रात्रि के समय पढ़ने-लिखने में निमग्र हो जाता है। उसकी माता को जब यह बात मालुम होती है तो वह पढ़ना-लिखना बंद कर अपने पुत्र का ध्यान नवविवाहिता वधू की ओर आकृष्ट करने के उपाय करती है। परिणाम स्वरूप वह वेश्यागामी हो गया। भगवद् गीता का भी उल्लेख है। आख्यायिका-पुस्तक, में कथा-विज्ञान और व्याख्यान की विशेषज्ञ स्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है। दूसरे को दुःख देने को अधर्म और सुख देने को धर्म कहा गया है **(अहम्मो पर दुक्खस्स कररोण, धम्मों य परस्स सुहप्पयारोणं)** यही जैन धर्म की विशेषता बताई गई है। जिसने सभी प्रकार के आरम्भ का त्याग कर दिया है और जो धर्म में दृढ़ है वह श्रमण हैं। शरीर अध्ययन प्रथम लंभक से प्रारम्भ होकर 29 वें लम्भक में समाप्त होता है। सामाविजया नाम के प्रथम लंभक में समुद्र विजय आदि नौ वसुदेवों के पूर्वभवों का उल्लेख हैं। परलोक

और धर्म के फल में विश्वास उपन्न करने हेतु सुमित्रा की कथा का वर्णन है। वसुदेव घर त्याग कर चल देते हैं। सामली लंभक में सामली का परिचय है। गंधर्व दन्ता लंभक में विष्णुकुमार का चरित्र, विष्णुगीतिका की उत्पन्ति, चारू दन्त की आत्मकथा और गंधर्वदन्ता से परिचय, अमितगति विद्याधर का परिचय और अर्थर्ववेद की उत्पन्ति दी हुई है। पिप्पलाद को अथर्ववेद का प्रणेता कहा गया है। वाराणसी में सुलसा नाम की एक परिब्राजिका रहती थी। त्रियंडी याज्ञवल्क्य से वाद में हार जाने के कारण वह उसकी सेवा करने लगी। इन दोनों से पिप्पलादका जन्म हुआ।[39]पिप्पलाद को उसके माता-पिता ने जन्म लेने के समय छोड़ दिया था, इसलिए उसने प्रदिष्ट होकर अथर्ववेद की रचना की जिसमें मातमेध और पितृमेध का उपदेश दिया गया है। नील जल सालंभक में ऋषम स्वामी का चरित्र है।

नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार "हरिभद्र युगीन प्राकृत कथा साहित्य के विस्तृत धरातल और चेतना क्षेत्र को लक्ष्य कर हम इसे पूर्व की चली आती सभी कथात्मक प्रवृन्तियों का "संघातयुग" कह सकते हैं। प्रवृन्तियों के संघात के अवसर अर्थात काल ओर उनके सम्मिलन विन्दु की अपनी विशेषतायें होती हैं। संघात का कार्य नितान्त: व्यवस्था का कार्य है। इस व्यवस्था के साफल्य पर ही उस "संघात" की कोटि निर्भर करती है। एक ऐसी व्यवस्था या आधार, जिस पर संघात की अनेक कोटियां बन सकें, कथा साहित्य के लिये अधिक उपादेय और संगत मानी जानी चाहिए, यत: उनमें वर्गीकरण और असम्पृक्त-पृथक-पृथक सामान्य धाराओं के निरूपण की सुविधा रह सकती है। इस अर्थ में किसी भी साहित्यिक विधा की प्रवृत्तियों का संघात रासायनिक या द्रव्यमूलक संघात से भिन्न होता है। रासायनिक संघात में दो तत्व मिलकर सर्वथा एक नये तत्व का निर्माण कर देते हैं, जो प्रकृति, कार्य और द्वन्द्व में अपने पूर्व रूप से भिन्न पड़ जाता है। प्रवृन्तियों का संघात ऐसा नहीं होता। संघात में रहने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति, जो एक तत्व, धारा या सन्ता है, अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है और उस नयी उद्भावना अपना ऐसा अंश रखती है जो उस संघात का प्रतिफल है। प्रवृन्तियों के संघात को हम उद्भावना के लिए आवश्यक शर्त मान सकते हैं। प्रवृत्तियाँ इकट्ठी होकर जब मिलती है, तभी

नयी उद्भावनायें होती हैं। इन उद्भावानाओं की मौलिकता और नवीनता काव्य या साहित्य क लिये नये रसबोध की धरती तैयार करती हैं, नयी दृष्टि का निर्माण करती है और किसी विशेष विद्या का सृजन प्रक्रिया और आधार फलक में नये मोड़ और चुनाव की सभावनाओं को दृढ़ करती हैं।[40]

समराइच्चकहा:–जैन साहित्य मे हरिभद्र नाम के आठ आचार्यो का विवरण प्राप्त होता है।[41] कुवलयमाला[42] के कथाकार उद्योतनसूरि (700 शक) ने इन्हें अपने गुरू के रूप में मान्यता दी है। समराइच्च कहा[43] में उज्जैन के राजा और प्रतिनायक अग्निशर्मा के नौ भवों का उल्लेख है। हरिभद्र सूरि इसके रचयिता है और इनका नाम पादलिप्त और बप्पभट्टि आचार्यो के साथ सम्मान पूर्वक स्मरण किया जाता है। सिद्धर्षि और उद्योत सूरि ने हरिभद्र सूरि के प्रभाव को स्वीकार किया है। हरिभद्र चित्तौड के रहने वाले थे। संस्कृत और प्राकृत के महान पंडित थे। आगमों पर टीकायें इन्होंने लिखी है। समराइच्चकहा को इन्होंने धर्म-कथा की संज्ञा दी है। समराइच्च कहा जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित है। इस रचना में शौर सेनी का भी प्रभाव है। इसका पद्यभाग आर्याछंद में लिखित है। भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। इसके वर्णनों का सादृश्य बाणभटट की कादंबरी से है।

प्रथम भव की कथा में गुण सेन और अग्निशर्मा की कथा-वस्तु में धार्मिक कथा की प्रतिष्ठा की गयी है। निदान[44] अर्थात विषय-भोग की चाह साधना सम्पन्न होने पर भी अनेक जन्मों में दु:ख देती है।

द्वितीय भवमें सिंह कुमार, कुसुमावली और आनन्द की कथायें हैं। इस कथा का प्रारम्भ प्रेम प्रसंग से होता है। विवाह विधि अनेक रोचक प्रक्रियाओ के वाद आती है, हठात निश्चय के बाद नहीं।[45]

तृतीय भव कथा जालिनी और शिखिन की है। चतुर्थ भव की कथा धन और नधक्षी की है।

पंचम भव में जय और विजय कथा है।

छठे भव की कथा धरण और लक्ष्मी से सम्बन्धित है।

सप्तम भव में सेन और विशेणकुमार की कथा है।

अष्टम भव में गुणचन्द्र और वानभन्तर की कथा है और नवम भव में समरादित्य और गिरिषेण की कथा का वर्णन है।

पूर्व जन्म मे समरादित्य का नाम राज कुमार गुणसेन था। अग्निशर्मा उसके पुरोहित का पुत्र था। वह बहुत कुरूप था। राज कुमार मजाक में उसे नगर भर में नचाता और गधे पर चढ़ाकर अनेक स्थानों पर घुमाता था। अग्निशर्मा को यह बात अच्छा नहीं लगी ऊब कर उसने तापसों की दीक्षा ग्रहण कर ली।

कुवलयमालाः—कुवलयमाला के रचयिता उद्योतन सूरि हैं। इस ग्रंथ की रचना सन् 779 ई0 में जाबालिपुर में हुई। यह स्थान जोधपुर के दक्षिण में है। उद्योतन सूरि को वीरभद्र सूरि ने सिद्धान्त और हरभिद्र सूरि ने युक्ति शास्त्र को शिक्षा दी थी। कुवलयमाला काव्य शैली मे लिखा हुआ प्राकृत-कथा साहित्य का एक अनोखा ग्रंथ है।

गद्य-पद्यमिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत मे चंपू की शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री के साथ इसमें पैशाची, अपभ्रंश और यत्र-तत्र संस्कृत का भी उपयोग हुआ है। मठों में रहने वाले विद्यार्थियों और व्यापार के लिए दूर-दूर तक भ्रमण करने वाले वणिकों की बोलियों का इसमें संग्रह। प्रेम और श्रृंगार के वर्णनों से युक्त, इसमें अलंकारों का सुंदर प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में सुभाषित और मार्मिक प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका आदि दिखाई देते हैं। ग्रन्थ की रचना शैली पर

बाण की कादंबरी, त्रिविक्रम की दमयंती कथा और हरि भद्रसूरि की समराइच्च कहा आदि का प्रभाव दर्शित होता है।

कथाकोष प्रकरणः—कथाकोष प्रकरण सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य जिनेश्वर सूरि की रचना है जिसका सृजन उन्होंने सन् 1052 ई० में किया था। कथा कोषप्रकरण के अतिरिक्त अन्य कथा कोष भी प्राकृत में लिखे गये है। उत्तराध्यन की टीका (1073) में हुई। इसके कर्ता नेमिचन्द्र सूरि और वृत्तिकार आम्रदेव सूरि के आख्यानमणिकोश और गुणचन्द्र मणि के कहारयण कोस की रचना सन् 1101 में पुरी हुई। धम्मक हाणय कोस प्राकृत कथाओं का कोश है। प्राकृत में ही इस पर वृत्ति है। मूल लेखक वृत्तिकार का नाम अज्ञात है।[46]

कथानक कोश को ध्म्म कहाणयकोस भी कहा गया है। इस में 140 गाथायें है। इसके कर्ता का नाम विनय चन्द्र है, इनका समय सन् 1109 है। इस ग्रन्थ पर संस्कृत व्याख्या भी है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के भंडार में है।

कथावलि प्राकृत कथाओं का एक विशाल ग्रंथ है जिसे भद्रेश्वर ने लिखा है। भद्रेश्वर का समय सन् 11वीं शताब्दी माना जाता है। इस ग्रंथ में त्रिषष्टि—शलाका पुरूषों का जीवन चरित्र संग्रहीत है। इस के सिवाय **कालकाचार्य** से लेकर हरिभद्र सूरि तक के प्रमुख आचार्यो का जीवन चरित्र वर्णित है।

जिनेश्वर ने भी 239 गाथाओं में कथाकोश की रचना की इसकी वृत्ति प्राकृत में है। इसके अतिरिक्त शुभशील का कथाकोश, श्रुतसगर का **कथा कोश**, सोमचन्द्र का **कथा महोदधि,** राजशेखर मल धारि का **कथा संग्रह** आदि कितने ही कथाकोष संस्कृत में लिखे गए है।

ज्ञानपंचमी कथा जैन महाराष्ट्री प्राकृत का एक सुन्दर कथा ग्रंथ है जिसके कर्ता महेश्वर सूरि हैं।[47] उनका कथन है कि गूढार्थ और देशी शब्दों से रहित तथा सुललित पदों से ग्रथित

और रम्य प्राकृत काव्य किस के मन को आनन्द प्रदान नहीं करता।[48]आख्यान मणिकोश **उत्तराध्ययन सूत्र** पार सुखबोध नाम की टीका का रचना काल विक्रम संवत 1129 है। यह नेमिचन्द्र सूरिकी महत्वपूर्ण रचना है। प्राकृत कथाओं का यह कोँष है। आम्र देव सूरि ने सन् 1134 ई0 में इस पर टीका लिखी है।[49]

कहारयण कोस के कर्ता गुणचन्द्रगणि, देवभद्र सूरि के नाम से भी प्रख्यात हैं। कथा रत्न कोश गुणचन्द्र मणि की महत्व पूर्ण रचना है जिसमें अनेक लौकिक कथाओ का संग्रह है इसका रचना काल सन् 1101 ई0 है।

कालिकायरिय कहाणय (कालिका चार्य कथानक) के संबंध में प्राकृत और संस्कृत में अनेक कथानक लिखे गये है। प्राकृत और संस्कृत कथानक लेखको में देवचन्द्र सूरि, मलधारी हेमचन्द्र भद्रेश्वर सूरि, धर्म घोष सूरि, भावदेवी सूरि धर्म प्रभ सूरि आदि आचार्यो के नाम मुख्य है।[50]

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. ऋग्वेद, मंत्र 1, सूक्त 25, मंत्र 30, सूक्त 25
2. छान्दोग्य उपनिषद, 4/1/3
3. जैन, जगदीश चन्द्र, **प्राकृत साहित्य का इतिहास**, पृष्ठ 33 ।
4. भद्रवाहु, आवश्यक निर्युक्ति पृ. 92 ।
5. हेमचन्द्र का पाकृत व्याकरण (1.1 की वृत्ति)
6. जगन्नाथ प्रसाद, **कहानी का रचना, विधान, पृ. 4-5 ।**
7. शास्त्री नेमिचन्द्र, **हरिभद्र के पाकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परशीलन**, पृ. 3 ।
8. उपाध्ये, ए. एन. **इन्ट्रोक्शन वृहत्कथाकोष**, पृ. 18 ।
9. वही, पृष्ठ 31 ।
10. **मूलाचार** अ. 5, गाथा 279 ।
11. जैन, जगदीशचन्द्र, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ-197
12. वही, पृ.-197
13. उपाध्ये, ए. एन. बृहत कथाकोष, तत्रैव विटरनित्स **हिस्टरी ऑव इन्डियन लिटरेचर, पृ. 521 ।**
14. शास्त्री नेमिचन्द्र, पूवोद्धरित, पृ.-40
15. सेसतुंग विचार श्रेणि; प्रद्युम्न. विचा. गा. 532 ।
16. हरिभद्रस्य समयनिर्णयः, पृ. 17 ।
17. विशविशिका की प्रस्तावना ।
18. सिद्धि विनिश्चयटीका की प्र., पृ. 52 ।
19. शास्त्री नेमिचन्द्र पूर्वोद्धरित, पृ. 47 ।
20. **समाराइच्चकहा,** पृष्ठ 2 ।
21. **दशवैकालिक निर्युक्ति** पृष्ठ 193-205 ।
22. आचार्य हेमचन्द्र **काव्यानुशासन** (8, 7-8) ।
23. **साहित्य दर्पण** (6. 334-5)

24. **प्रबन्ध चिन्तामणि** भृशं श्रुतत्वान्न कथा: पुराणा: प्रीणांति चेतांसि तथा वुधानाम ।। (पौराणिक कथाओं के बार-बार श्रवण करने से पंडित जनों का चित्त प्रसन्न नही होता)

25. वासुदेव हिण्डी, भाग 2, मुनि जिनविजय जी के बसंत महोत्सव, संवत 1984 में "कुवलयमाला" लेख से उद्धृत ।

26. जैन, जे. सी. पूर्वोद्धित, पृ. 372 ।

27. उपभिति भवप्रपञ्चकथा, 1-51-52 ।

28. **आन द लिटरेचर ऑव द श्वेताम्बर जैनस** लीपजिगं, 1922,

29. **विशेषावश्यक भाष्य, गाथा 1508 ।**

30. शास्त्री नेमिचन्द्र, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 37 ।

31. मुनि जिनविजय द्वारा संपादित आत्मानन्द जैन ग्रन्थ माला, भावनगर की ओर से सन् 1930 और सन् 1931 में प्रकाशित1 इसका गुजराती भाषांतर प्रोफेसर सांडेसरा ने किया है जो उक्त ग्रन्थमाला की ओर से वि. सं. 2003 में प्रकाशित हुआ है ।

32. वा. हि., पृ. 20, प्रथम खण्ड—प्रथम अंश ।

33. शास्त्री नेमिचन्द्र, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 38 ।

34. 'नायाधम्मकहाओं' में दोवइ की कहानी और 'उवासगदसो' गृहस्थ उपासको की कहानी, इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है । सन्यासी द्वारा निदान का सादृश्य भगवद्गीता अध्याय 6 के योग भ्रष्ट प्रकरण-श्लोकों (35-47) से तुलनीय है ।

35. वासुदेव हिण्डी (प्रथम खण्ड) के उदाहरण ये है:—

धम्मिल (पृ. 74-76), पज्जुन्न और संबा (85-91), अंध्गवन्ही (112), वासुदेव (114-118), स्तवती और लसुनिया (219), सोमसिरी (223-234), वासुदेव हिण्डी (द्वि. खं.) मे नल और दमयन्ती की कहानी का वर्णन (पृ. 61 बी—73ए) ।

36. सोमदेव के कथासरित्सागर में भी लावाणक लंबक, सूर्य प्रभ लंबक, महाभिषेक लंबक इत्यादि नाम दिये गये हैं । वासुदेव के भ्रमण की भांति नर वाहनदत्त का विवाह जिस कन्या से होता है उसी के नाम से लंबक कहा जाता है ।

37. डा. आल्सडोर्फ का 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिष्टिएल स्टडीज' जिल्द 8 मे प्रकाशित लेख तथा वासुदेव हिण्डी के गुजराती अनुवाद का उपोद्घात ।

38. शास्त्री नेमिचन्द्र, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 39 ।

39. ब्रह्मण धर्म मे पिप्लाद अथर्ववेद के प्रणेता माने जाते है । अथर्ववेदीय प्रश्न उपनिषद् (1-1) मे भारद्वाज, सत्यकाम, गार्ग्य, आश्वलायन, भार्गव आदि ब्रह्मपरायण ऋषि पिप्पलाद के समीप उपस्थित होकर प्रश्न करते है, पिप्पलाद उन्हें उपदेश देते है ।

40. शास्त्री नेमिचन्द्र, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 40 ।

41. अनेकान्त जयपताका, भाग-2 भूमिका, पृ. 30 ।

42. जो इच्छइ भव-विरहं कोण वंदए सुयणो समय-सय-सत्थ-गुरूणो समर मियंका कहा जस्स ॥—कु., अ. 6, पृष्ठ 4 ।

43. हर्मन जैकोवी ने भूमिका के साथ इसे एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल, कलकत्ता के सन् 1926 में प्रकाशित किया था । उसके बाद पं. भगवान दास ने संस्कृत छाया के साथ दो भागों मे क्रमश: सन् 1938 और 1942 मे इसे अहमदाबाद से प्रकाशित किया है ।

44. निदानं विषय भोगाकांक्षा—सर्वा. 7/18, पृ. 234 ।

45. ग्रहसेविउं पयत्ता—परितुट्ठाहियएणं—स. 2/81-92 ।

46. जैन ग्रंथावलि, पृ. 267 ।

47. डा. अमृतलाल गोपाणी द्वारा सिंधी जैन ग्रन्थमाला में सन् 1949 में प्रकाशित ।

84. सक्कयक व्वस्सत्थं जेण न जाणंति मंदबुद्धीया । सव्वाण वि सुहवोहं तेण इमेंमं पाइयं रइयं ॥ गूढत्थ देसिरहियं सुललियवन्नेहिं गंथियं रम्भं ।

पाइयकव्वं लोए कस्स न हिययं सुहावेइ ॥

49. इस ग्रन्थ का संपानदन मुनि पुण्यविजय जी द्वारा हुआ है । आत्मानंद जैन ग्रंथमाला मे मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित, सन् 1944 मे प्रकाशित ।

50. यह जेड. डी. एम. जी (जर्मन प्राच्य विद्या समिति की पत्रिका) के 34 वें खण्ड में 274 वे पृष्ठ, 35 वे खंड मे 675 तथा 37 वे खण्ड में 493 पृष्ठ से छपा है । **कालिकाचार्य**—कथासंग्रह अंबालाल प्रेम चन्द्रशाह द्वारा सम्पादित सन् 1949 में अहमदावाद से प्रकाशित हुआ है । इसमें प्राकृत और संस्कृत की कालिकाचार्य के ऊपर भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखी हुयी 30 कथाओ का संग्रह है । उमाकान्त शाह, **सुवर्णभूमि में कालकाचार्य**; डब्ल्यु नार्मन ब्राउन, स्टोरी आव कालक; मुनिकल्याण विजय, प्रभावक चरित की प्रस्तावना; द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वि. सं. 1990 ।

अध्याय 2

जैन कथा साहित्य की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि

जैन कथा साहित्य में वर्णित धार्मिक जीवन के विश्लेषण करने में, इस साहित्य के सृजन काल के सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश का अध्ययन आवश्यक है। अतएव, इस अध्याय को दो खण्ड़ों में विभाजित किया गया है। खण्ड अ जैन कथा कालीन सामाजिक परिवेश प्रस्तुत करता है जबकि खण्ड ब में आर्थिक स्थिति का वर्णन किया गया है।

खण्ड-अ: सामाजिक दशा

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ (उसभ) के समय तक का समाज स्वर्गीय-आदर्श (UTOPIAN) अवस्था में था और जन जीवन आनन्दमय था। क्रमशः लोग धर्म के प्रति उदासीन होने लगे जिसके परिणाम-स्वरूप अभाव की स्थिति उत्पन्न हो गई और लोग असामयिक मृत्यु के शिकार होने लगे तथा समाज में अराजकता की स्थित उत्पन्न हो गयी।[1] ऋषभ ने ह्रास की स्थितियों से बचने के लिये, राजनैतिक और सामाजिक प्रतिबन्धों की नीतियों की संहिता का प्रतिपादन किया। इसी के साथ राजशाही, दण्ड चातुर्वर्ण्यव्यवस्था और विवाह की नीतियों का प्रतिपादन किया।[2]

इन नीतियों में वैदिक धर्म की वर्णव्यवस्था का प्रतिबिब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कालान्तर में, जैन कथाकारों की कृतियों में भी वैदिक कालीन सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। जैसे **वसुदेव हिण्डी** के पात्र साम्ब द्वारा धर्म और अर्थ की प्राप्ति के लिए कर्म के संपादन पर भी जोर दिया जाना।[3] हरिभद्र कालीन जैन कथा **समराइच्चकहा** में आर्य एवं अनार्य

जातियों का उल्लेख मिलता है।[4] आर्य जातियों के अर्न्तगत, ब्राहमण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र, चार वर्ण बताये गये हैं, जबकि अनार्य जातियों में, शक यवन, शबर, बर्बर, काय आदि जातियों की एक लम्बी सूची है।[5] जैन कथा कृतियों में वर्णित सामाजिक स्तरीकरण संक्षेप में निम्नवत है।

वर्ण व्यवस्था

ब्राह्मणः–वासुदेव हिण्डी तथा अन्य जैन कथा ग्रन्थों के अनुसार सामाजिक व्यवस्था के क्रम में ब्राह्मणों को उच्चस्तरीय सम्मान प्राप्त था वे हर प्रकार के सम्मान प्राप्त करने के योग्य समझे जाते थे[6]। भय के कारण यह सम्मान लोगों से उन्हें नहीं मिलता था बल्कि ब्राह्मणों ने एक विश्वास और श्रद्धा अपने को सम्मान प्राप्त करने के लिये लोगों में पैदा की जिसका लाभ चोरों ने ब्राह्मणों के छदम वेष में उठाया तथा भ्रमण करने वाले अपनी सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए।[7]

विशेष अवसरों पर[8] जैसे विवाह[9] या देवता के सम्मान में होने वाले उत्सवों[10] में ब्राह्मणों को भोज पर आमन्त्रित किया जाता था। एक ब्राहमण युवक के लोभ का भी संदर्भ प्राप्त होता है जो दुग्ध पदार्थ का वमन कर, उसे पुनः प्राप्त करना चाहता था क्योंकि उसे यह पदार्थ स्वादिष्ट लगा। एवं अन्य स्थानों पर जाकर दक्षिणा भी प्राप्त करना चाहता था[10]।

ये सभी सुविधायें जो ब्राह्मण जाति को प्रदान की गयीं थी, उनकी जड़े चक्कम विचार में थी [11] मनुस्मृति[12] में वर्णित ब्राह्मणों के छः मुख्य कर्त्तव्यों में विहित सुविधाओं की जड़ें चक्कम में थी। ये मुख्य कर्त्तव्य इस प्रकार है:–शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन, याज्ञिक कृतियों को सम्पन्न करना तथा कराना, दान देना और उन सबको स्वीकार करना। वासुदेव हिण्डी में ब्राह्मणों को अज्ञानी[13], कामुक[14] और हत्या करने वाला भी कहा गया है। तथापि अहिंसा व्रत का पालन करने वाले गृहस्थ जैन धर्म के अनुयायियों की भाँति आदर्श जीवन व्यतीत करने

वाले ब्राह्मण को महान् की उपाधि प्रदान की गई थी।[15] वासुदेव हिण्डी के अनुसार ब्राह्मण दण्ड से मुक्त नहीं थे। राजा नालपुत्र ने अपने ब्राह्मण पुरोहित को एक महिला की लाल गरम प्रतिमा का आलिंगन करने का दण्ड दिया क्योंकि वह एक व्यवसायी की पत्नी की ओर कामुक हो गया था[16] ब्राह्मण संदेशवाहक और पुरोहित का कार्य भी करते थे[17]।

उद्योतन सूरि ने ब्राह्मणों का उल्लेख इस प्रकार से किया है: राजा दृढ़-वर्मा के दरबार में स्वस्तिक पढ़ने वाला ब्रह्मा सदृश महाब्राह्मण[18] तथा शुक्र सदृश महापुरोहित उपस्थित रहते थे[19]। राजा ने देवी से वर प्राप्त कर विप्रजनों को दक्षिणा दी (दक्खि ऊण विप्पयणं) कुवलयचन्द्र के जन्म-नक्षत्र और ग्रहों को देखने के लिये सम्बत्सर को बुलाया गया, जिसे दक्षिणा में सात हजार रूपये दिये गये। चंडसोम, जन्म-दरिद्री सुशर्म देव द्विज का पुत्र था। यौवन-सम्पन्न होने पर उसका विवाह ब्राह्मण कुल (बंभण कुलाणं) की कन्या से कर दिया गया। चंडसोम, ब्राह्मणों की वृत्ति करते हुये (कयाणियो-विन्ती) उसका पालन करने लगा। चंडसोम अपने भाई एवं बहिन की हत्या कर देने के कारण जब आत्मघात करने लगा तो अनेक शास्त्रों के ज्ञाता पंडितों (सेन्तिय-पंडिएहिं) ने उसे प्रायश्चित करने के लिये कहा।

किसी ने कहा कि ब्राह्मणों को स्वयं समर्पित कर देने से शुद्ध हो जाओगे[20]। दूसरे ने सुझाव दिया कि अपनी पूरी सम्पति ब्राह्मणों का दानकर (सयलं घर-सव्वस्सं वंभणार्ण दाऊण) गंगास्नान को चले जाओं।

अन्य प्रसंगों में ब्राहमणों का वर्णन इस प्रकार है:-धनदेव के पिता ने उसे ब्राह्मणों को दक्षिणा देने को कहा (दक्खेसु बंभणें)। समुद्रयात्रा प्रारम्भ करते समय ब्राह्मणों ने आशीषें पढीं (पढ़ति बंभण-कुलाइं आसीसा)। समुद्री तूफान के समय व्यापारियों ने ब्राहमण-भोज (बंभणाणं भोयणं) करने का वचन दिया। कोसाम्बी नगरी में शाम होते ही ब्राह्मणों के घरों में गायत्री जप होने लगा तथा ब्राहमण शालाओं में जोर से वेद का पाठ होने लगा। चिन्तामणि-पल्ली में **चिलातों** के लिये ब्राह्मणों का वध करना दूध में विष पिलाये जाने के सदृश था[21]।

माकन्दी नगरी में यज्ञदन्त नाम का जन्म-दरिद्री श्रौत्रिक ब्राह्मण रहता था। उसके यज्ञसोम नाम का पुत्र था। उस नगर में जब अकाल पड़ता तो लोग ब्राह्मण पूजा भूल गये (विसंवयति बंभण-पूयाओं)। यज्ञदन्त ने याचना मात्र व्यापार को अपना कर भिक्षा-वृत्ति प्रारम्भ की, किन्तु भरण-पोषण न होने से वह मर गया। उसका पुत्र यज्ञसोम किसी प्रकार जीवित रहा, किन्तु उससे ब्राह्मण की सभी क्रियाएं छूट गयीं (अकय-बंभण क्कारो) तथा शरीर पर जनेऊ भी न रहा (अबद्ध-मुंजु-मेहलो) अत: बन्धु-बान्धवों ने उसे त्याग दिया। लोगों ने "यह ब्राह्मण-पुत्र" (बंभण-डिंभो) यह सोचकर उसे कष्ट नहीं होने दिया। अत: यज्ञसोम ने किसी प्रकार उस अकाल को व्यतीत किया और वह ब्राह्मण बटुक (बंभणो सोमवडुओ) सोलह वर्ष का हो गया। जीविका के लिये वह कचड़े खाने को साफ करता तथा जूठे कुल्हड़ों को फेंकता था। अत: उस पर लोग हंसते थे कि वह कैसा ब्राह्मण है[22] इस प्रकार की निन्दा और उपहास के कारण वह नगर छोड़ कर चला गया।

हस्तिनापुर में भगवान महाबीर का समवसरण लगा था। वहाँ एक ब्राहमण का पुत्र (बंभण-दारओ) उपस्थित हुआ। उसके श्याम वक्ष स्थल पर श्वेत ब्रहम सूत्र शोभित हो रहा था। गले में दुपट्टा पड़ा था[23]। भगवान ने उसका परिचय देते हुए कहा कि यहाँ से पास में ही सरलपुर नाम का ब्राहमणों का एक अग्गाहार है—बंभणाणं अग्गाहार। वहाँ यज्ञदेव नाम का चतुर्वेदी रहता है। उसके पुत्र का नाम स्वयंभूदेव है। दुर्भाग्य से वह इतना निर्धन हो गया कि लोक-यात्रा करना उसने छोड़ दिया, अतिथि सत्कार करना उसने छोड़ दिया, ब्राह्मण की क्रियाएं शिथिल पड़ गयीं। अंतत: अपनी माता के कहने पर वह धन कमाने के लिए घर के बाहर निकल गया।

जैन कथा साहित्य से ब्राह्मणों के विषय में संक्षेप में अधोलिखित बातें मुख्यत: ज्ञात होती है।[24]

1. ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करते थे। जन्म पत्री, लग्नपत्री देखने तथा विवाह सम्पन्न कराने का कार्य भी उन्हीं का था। विवाह कराने वाले द्विज अनेक वेद तथा सिद्धान्त शास्त्रों में पारंगत होते थे[25]। इन्हें प्रभूत दक्षिणा दी जाती थी।

2. राज-दरबार में नियुक्त ब्राह्मणों को महाब्राह्मण कहा जाता था, जो सम्मान सूचक है।

3. मांगलिक अवसरों पर अथवा यात्रा प्रारम्भ के समय ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी तथा उनके आशीर्वाद प्राप्त किये जाते थे।

4. वेद पाठ करने वाले ब्राह्मण श्रौतिक ब्राह्मण कहे जाते थे।

5. ब्राह्मण-भोज कराना तत्कालीन समाज में पुण्य प्राप्ति का साधन था। संकट के समय तथा किसी सम्बन्धी की मृत्यु के बाद ब्राह्मण-भोज कराया जाता था।

6. ब्राह्मण को गौ, भूमि, धान्य एवं हल आदि दान करना धर्म माना जाता था।

7. तीर्थयात्रा को जाते समय व्यक्ति अपनी सम्पत्ति ब्राह्मण को दान में दे देते थे।

8. ब्राह्मण जन्म के दरिद्री होते थे। कोई ही धनी होता था।

9. ब्राह्मणों की कुछ निश्चित क्रियायें थीं। उनके घरों में प्रतिदिन गायत्री का जाप होता था। वे यज्ञ करते थे। यदि ब्राह्मण अपनी क्रियाओं से शिथिल हो अन्य कार्य करने लगता था तो समाज में उसकी निन्दा होती थी।

10. ब्राह्मणों की अपनी पाठशालाएं थीं जहां वेद पाठ होता था।

11. नगर में ब्राह्मण संघ तथा ब्राह्मणकुल तो होते ही थे, दान में प्राप्त गांव में ब्राह्मणों का निवास होने से गांव का नाम ही अग्गाहार पड़ जाता था।

12. ब्राह्मण वध समाज में निन्दनीय माना जाता था। महा पापी, म्लेच्छ ही ब्राह्मण का ध्यान नहीं रखते थे।

क्षत्रियः—पराक्रम क्षत्रिय जाति का मुख्य लक्षण था[26]। जैसा कि वासुदेव हिण्डी में उल्लेख है, क्षत्रिय किसी भी खतरे से लोगों की रक्षा कहते थे[26]। उन्हे राजन्य भी कहा जाता था और राजा इसी वर्ण के लोग थे। आध्यात्मिक क्षेत्र में, वे किसी भी माने में ब्राह्मणों से कम नहीं होते थे। जैन-धर्म के सभी चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय वर्ण के थे। इस सम्बन्ध में वासुदेव हिण्डी का एक उदाहरण महत्वपूर्ण है सम्राट हरिकंड ने एक क्षत्रिय वंशज (क्षत्रिय कुमार) को अपना धार्मिक सलाहकार नियुक्त किया[28]। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के वैचारिक मतभेद का संकेत परशुराम की कहानी में मिलता है[29]। कहानी के अनुसार क्षत्रियों के प्रति परशुराम की घृणा भावना इस लिये जागृत हो उठी कि एक क्षत्रिय ने परशुराम के पिता की हत्या कर दी थी। परशुराम ने इक्कीस बार में उन सब की हत्या कर डाली। प्रतिशोध की भावना से राजा कट्टवीरिय ने इक्कीस वार ब्राह्मणों की हत्या किया। केवल उन्हीं लोगों को हत्या से मुक्त कर दिया गया जिन्होंने अपने को ब्राह्मण होने से इंकार कर दिया था।

उद्योतनसूरि ने क्षत्रिय वर्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार जानकारी दी है। उज्जयिनी के राजा उवन्तिवर्द्धन के दरबार में राजवंश में उत्पन्न क्षेत्रभट नाम का एक वृद्ध ठाकुर अपने पुत्र वीरभट के साथ राजा की सेना में नियुक्त था। उसे सेवा के बदले में कूपवन्द्र नामक गाँव राजा ने दिया था। उस वृद्ध ठाकुर के पौत्र शक्तिभट को दरबार में एक निश्चित आसन प्राप्त था, जिस पर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बैठ सकता था।

कुवलयमाला में उल्लिखित जुण्ण-ठक्कुर के सम्बन्ध में बुद्ध प्रकाश ने पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा ठाकुर शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में विचार किया है[30]। क्षत्रियों के अतिरिक्त ठाकुर (ठक्कुर) शब्द ब्राहमणों के लिये भी प्रयुक्त होता था, गहड़वाल वंश के गोविन्द चन्द्र के लेख में ठक्कुर को कश्यप-गोत्रीय सरयूपारी ब्राह्मण कहा गया है।[31] चंदेल लेखों में उल्लिखित ठक्कुर के साथ राउत नामक ब्राह्मण मुख्यरूप से वर्णित है[32]। ठाकुर परिवारों का

सम्बन्ध प्राचीन भारत के इतिहास में राजघरानों से बना रहता था[33]। प्राचीन भारतीय साहित्य में "ठाकुर" शब्द का विविध अर्थो में प्रयोग हुआ है किन्तु प्राय: राजघराने के व्यक्तियों के लिए यह अधिक प्रयुक्त हुआ है[34]।

प्राचीन भारत में इक्ष्वाकु क्षत्रियों का एक वंश था। उद्योतन सूरि इक्ष्वाकुवंश की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी है। ऐणिका को अपना परिचय देते हुये कुवलयचन्द्र कहता है—"इन्द्र ने ऋषभदेव को आहार के लिये ईख प्रस्तुत किया।" भगवान ने जब ईख ग्रहण कर लिया तो इन्द्र ने कहा कि आज से भगवान का वंश इक्ष्वाकु के नाम से जाना जायेगा[35]। उस समय से इक्ष्वाकु क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

वैश्य:—वैश्यों को वणिक जाति से अविहित किया गया[36]। वे दूकान रखकर जीविकोपार्जन करते थे[37]। व्यवसाय के लिए कभी-कभी वे कारवां बनाकर भ्रमण करते थे और सात्थवाह के नाम से संदर्भित है[38]। इम्भ एक सम्मानित जाति थी जिनका संदर्भ जैन आगम-साहित्य में उपलब्ध होता है[39] और इसी प्रकार का संदर्भ वासुदेव हिण्डी में है कि वे कारवां के रुप में व्यापार[40] करते थे या शहर में सेट्ठी[41] के कर्तव्यों को निभाते थे। ये सब वैश्य वर्ण से सम्बन्धित थे[42]। गहपति जो कारवां व्यवसाय करते थे[43] और कृषि कार्यो को भी करते थे[44]। सम्भवत: उनका सम्बन्ध इसी जाति से था[45]। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी यह वर्ण गांव के प्रशासन का भी कार्य भार देखता था[46]। ब्याज पर रुपये बांटते थे और कभी-कभी वित्तीय धोखाधड़ी भी करते थे[47]।

जैन कथाओं के अनुशीलन से यह इंगित होता है कि वैश्य वर्ण के लोग बड़ी संख्या में जैन धर्म के अनुयायी थे तथा ये सेट्ठी और सार्थवाह (सात्थवाह) के नाम से भी जाने जाते थे[48]।

शूद्र:—भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्राचीन काल से ही वर्ण व्यवस्था पर आधारित रही है। कर्मो एवं गुणों के आधार पर विभिन्न वर्णो के कर्म विभाजित थे:—

"ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप[49]।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभाव प्रभवैगुणैः" ॥

(भगवत् गीता अ. 18, श्लोक 41)

"हे परंतप अर्जुन । ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। शुद्रों को बिना द्वेष भाव के तीनों वर्णो की सेवा करने का कर्त्तव्य है[50]"। मनु के अनुसार दासता इनका कर्त्तव्य था[51]। वासुदेव हिण्डी के अनुसार राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए, ऋषभनाथ ने चातुर्य वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया। इन चारों में से एक को "कज्जनीवियग[52] नियुक्त किया गया। पेसा चाकर (पेस जन[53] या पेसा)[54] का अर्थ उपरोक्त वर्णित है। चाकरों को यदा-कदा से डस[55] और सेडी[56] नाम से संदर्भित किया गया है जो प्रसाधन और श्रंगार में (अंगपडिकार[57] पडिकम्मकारिया)[58] सहायता करते थे, विस्तर लगाते थे[59] और मालिश [60] करते थे। दाई के रुप में शूद्रा स्त्रियाँ बच्चों की देख-भाल करती थीं[61] और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करती थीं[62]। बहुत से ऐसे दास थे जो मालिक की सेवा जीवन पर्यन्त करते थे जैसे कि लसुनिगा के उदाहरण से स्पष्ट है जो एक सार्थवाह की पुत्री रत्तवती के साथ जीवनपर्यन्त रहीं[62]। वासुदेव हिण्डी (द्वितीय खं.) के अनुसार चाकर और गुलाम समाज के सबसे निम्न स्तर के थे[63]।

चण्डाल और अन्य तिरस्कृत जातियाँ:—उपरोक्त चार वर्णो के अतिरिक्त समाज में कुछ अन्य जातियाँ थीं जो बस्ती के बाहर रहती थीं। इन्हें चाण्डाल[64], पांस[65] और मायंग्[66] नामों से जाना जाता था।

इनके निवास स्थान को वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.) में पन्नियवाड[67] कहा गया है। इन जातियों के लोग राजदरबार[68] में प्रवेश नहीं कर सकते थे और न ही किसी सम्मानित व्यक्ति के घर में ही[69]। नगर के कुओं[70] से पानी नहीं भर सकते थे सम्भवतः इसलिए कि जल

प्रदूषित हो जायेगा[72]। ये चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बाहर थे। इन जातियों के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का कोई प्रश्न[72] ही नहीं उठता था। पांस संगीत विद्या और नृत्य में निपुण थे। इस जाति के लोग मनोरंजन का कार्यक्रम प्रस्तुत करते थे[73]। वे कुत्तों को लेकर भ्रमण करते थे[74]। वीणा बनाकर [75] जीविकोपार्जन करते थे। उन्हें अपराधियों के सर काटने की जिम्मेदारी सौंपी जाती थी[76]। मायंग जैन धर्म में परिवर्तित हो सकते थे[77] और जैन साधु भ्रमण के समय उनके घर से भिक्षा ग्रहण कर सकते थे। वासुदेव हिण्डी (द्वि. ख.) में उल्लिखित है कि चाण्डाल अपराधियों को फांसी चढ़ाते थे[78]।

हरिभद्र के अनुसार अनार्य जातियों में शक, यवन, शबर, बर्बरकाय, और गौड़ जातियों का उल्लेख मिलता है[79]।

चाण्डाल, डोम्बलिक, रजक, चर्मकार, शाकुनिक, मत्स्यबन्ध और नापित[80] जाति के नामोल्लेख मिलते है[81]। ये सभी जातियां शूद्र जाति के अन्तर्गत आती थीं।

शबर और भिल्ल जंगल में रहते थे। इन का अधिपति पल्लीपति कहलाता था[82]। किसी-किसी पल्लीपति का सम्बन्ध अभिजात्य वर्ग के राजा से भी रहता था और उस राज़ा के अधीनस्थ रह कर अपने राज्य का संचालन करता था। हरिभद्र के आख्यानों के अनुसार शबर प्रायः लूट-पाट किया करते थे[83]। जंगल में इनका राज्य रहता था। पल्लीपति शबरों की देख-भाल करता था तथा लूट के माल में सबसे अधिक भाग उसी का होता था[84]।

चाण्डालों का कार्य लोगों को फांसी देना, प्राण लेना तथा इसी प्रकार के अन्य कठोर कर्म करना था। रजक को वस्त्र शोधक भी कहा है[85]। वस्त्र साफ करने का कार्य रजक करते थे। नापित अपने कार्य के अतिरिक्त राजा को पाखाना कराने का कार्य भी करते थे[86]।

उद्योतन सूरि के पूर्व प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का स्वरुप वैदिक मान्यताओं के अनुरुप था। गुप्तयुग में सामाजिक वातावरण इस प्रकार था कि सिद्धान्तः कर्मणा वर्ण-व्यवस्था

को मानने वाले जैन आचार्य भी श्रौत-स्मार्त-मान्यताओं से प्रभावित होने लगे थे। जटा सिंह नन्दि (पूर्वार्ध 6 वीं शती) ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को सिद्धान्तः स्वीकार नहीं किया, व्यवहार के लिए शिष्ट लोगों के द्वारा चातुर्वर्ण्य-वर्ण बनाया गया है, इस बात का वे विरोध नहीं कर सके[87]। रविषेणाचार्य (676 ई.) ने समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था को कर्म के आधार पर ऋषभदेव द्वारा किया गया विभाजन स्वीकार किया[88]। जिन सेन सूरि (क783 ई.) ने जन्मगत वर्ण-व्यवस्था को भी जैनीकरण करके स्वीकार कर लिया[89]।

उद्योतन सूरि ने शूद्र जाति में गिनी जानेवाली अनेक उपजातियों का उल्लेख किया है[90]। तक्षशिला में शूद्रजाति में उत्पन्न धनदेव नाम का सार्थवाह पुत्र रहता था। (तम्मिगामें सुद्दजाइओ धणदेवो णाम सत्थवाह उन्तो[91])। ए. एन. उपाध्ये ने इसके लिए "सुद्वजाइओ" पाठ निर्धारित कर, धनेदव को शुद्ध जाति का माना है[92]। किन्तु आठवीं शताब्दी में शूद्रों की स्थित को देखते हुए कहा जा सकता है कि सार्थवाह भी शूद्र हो सकते थे। अतः धनदेव को शूद्र जाति में उत्पन्न ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है।

दशरथ शर्मा ने इस समय के शूद्रों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा कि शूद्रों के अन्तर्गत कृषक, शिल्पी, मजदूर एवं अन्त्यज और म्लेच्छों के ऊपर के वे सभी जो किसी कारणवश श्रेष्ठ तीन जातियों में न आ जाते थे, शूद्र कहे जाते थे[93]। शूद्रों की स्थिति में सुधार हो रहा था[94]। कृषि अपनाने के कारण शूद्र वैश्य हो रहे थे तथा आर्थिक सम्पन्नता के कारण उनको सम्मान मिलने लगा था। धार्मिक और राजनैतिक स्थिति भी अच्छी हो रही थी[95]। कुवलयमाला में उल्लिखित धनदेव का भी सार्थवाह होने के कारण सोपारक के व्यापारिक संगठन द्वारा सम्मानित किया जाना इस बात का प्रमाण है[96]।

उद्योतन सूरि के पूर्व हरिभद्र सूरि ने मानव जाति के दो भेद किये है— आर्य एवं अनार्य। उच्च आचार-विचार वाले गुणी-जनों को आर्य तथा जो आचार-विचार से भ्रष्ट तथा जिन्हें धर्म-कर्म का कुछ विवेक न हो उन्हें अनार्य या म्लेच्छ कहा है[97]।

उद्योतन सूरि ने अनार्य में निम्न जातियों का उल्लेख किया है[98]।

शक, यवन, शबर, बर्बर, कांय, मुरुण्ड, ओड, गोंड, कर्पटिका, अरवाक, हूण, रोमस, पारस, खस, खासिया, डोंबलिक, लकुस, बोक्कस, भिल्ल, पुलिंद, अंध, कोत्थ, किरात, हयमुख, गजमुख, खरमुख, तुरगमुख, मेंढकमुख, हयकर्ण, गजकर्ण, और, बहुत अनार्य होते हैं– अण्णे वि आणारिया वहवे[99]। जो पापी प्रचंड तथा धर्म का एक अक्षर भी नहीं सुनते। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी अनार्य हैं जो धर्म-अर्थ, काम से रहित हैं। चांडाल, भिल्ल, डोंब, शौकरिक और मत्स्यबंधक[100]। इस प्रमुख प्रसंग के अतिरिक्त भी उद्योतन ने अन्य प्रसंगों में विभिन्न जातियों का उल्लेख किया है, जिनमें से अधिकांश की पुनरावृत्ति हुई[101], कुछ नयी हैं—आरोट्ट, आभीर, कुम्हार, गुर्जर, चारण, जार-जातक, दास, पक्क णकुल, मातंग, मागध, लुहार, सिंहल आदि।

उद्योतन सूरि द्वारा कुवलयमाला में वर्णित उपर्युक्त जातियों को उनकी स्थिति एवं कार्यो के आधार पर निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया जा सकता है:—(1) म्लेच्छ जातियां, (2) अन्त्यज जातियां, (3) कर्मकार एवं (4) विदेशी जातियां।

म्लेच्छ जातियांः—चातुर्वर्ण्य वर्ण-व्यवस्था के बाहर जिनकी स्थिति थी उन्हें म्लेच्छ जाति का कहा जाता था। मुख्य रुप से आर्य संस्कृति के विपरीत आचरण करने वालों को म्लेच्छ कहा जाता था। इनका अपना अलग संगठन होता था और पृथक रहन-सहन। कुवलयमाला में उल्लिखित निम्न जातियां म्लेच्छ कही जा सकती है:— ओड़, किरात, कुडक्ख, कोंच, कोत्थ, गोंड़, चंचुक, पुलिंद, भिल्ल, शबर एवं रुरुचि। "प्रश्नव्याकरण" में जो म्लेच्छों की सूची दी गयी है उसमें कुवलयमाला में वर्णित म्लेच्छों के अधिकांश नाम समान हैं। चन्द्र मोहन सेन के धौलपुर अभिलेख में (824 ई.) चंबल नदी के दोनों किनारों पर बसे हुये म्लेच्छों का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी तक म्लेच्छ जाति अलग से संगठित हो चुकी थी। आधुनिक आदिवासियों से इनकी तुलना की जा सकती है।

ओड्डा—कुवलयमाला में म्लेच्छ जातियों के अन्तर्गत ओड्डा का उल्लेख हुआ है[102]। हुएनसांग ने ओड्र का उल्लेख करते हुये कहा है कि ये काले रंग के और असभ्य लोग थे तथा मध्य देश से भिन्न भाषा का प्रयोग करते थे[103]।

किक्कय—इसका उल्लेख जैन सूत्रों में आर्य क्षेत्रों के अन्तर्गत हुआ[104]। किक्य का अर्धभाग ही आर्य था, शेष अनार्य। इसी अनार्य भाग के लोगों को उद्योतन ने म्लेच्छ कहा है। किक्कय नेपाल की सीमा पर श्रावस्ती के उत्तरपूर्व में स्थित था तथा उत्तर के केकय देश से यह भिन्न था[105]।

कुडक्खा—जैन सूत्रों में कुडुक्क का उल्लेख अनार्य देश के रुप में हुआ है। वहां के निवासी कुडक्खा कहे गये हैं। व्यवहारभाष्य में कुडुक्खाचार्य का भी उल्लेख है। जैन कुडक्क की पहचान आधुनिक कुर्ग से करते है[106]।

चंचुय—इनके निवास स्थान और जाति का ठीक पता नहीं है। जामखेडकर चंचुय जाति की पहचान दक्षिण भारत की आधुनिक चेन्चुओं से करते हैं[107]।

मुरुंड— कुवलयमाला में मुरुंड[108] का उल्लेख म्लेच्छ जातियों के साथ हुआ है। बृहत्कथा में कहा गया है कि मुरुंड नाम का राजा कुसुमपुर में राज्य करता था[109]।

समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के प्रस्तर लेख में कहा गया है कि उसने शक और मुरुंडों को हराया था[110]। संभव है, गुप्त युग के बाद आठवीं श. में मुरुंड जाति का अस्तित्व न रहा हो। उद्योतन ने किसी प्राचीन परम्परा के आधार पर इनका उल्लेख कर दिया है[111]।

अन्त्यज-जातियां—कुवलयमाला में उल्लिखित चाण्डाल, डोंब, शौकारिक, मत्स्यबंधक डोम्बलिक, मातंग, बोक्कस, पंशुलि, भेरिया एवं पक्कण जातियों को अन्त्यज-जातियों के अन्तर्गत

रखा जा सकता है, जिन्हें उद्योतन ने अनार्य एवं धर्म, अर्थ काम से रहित कहा है। आठवीं से 12वीं शताब्दी तक के विभिन्न जैन कथाकारों ने अपने ग्रंथों में इन जातियों में से अधिकांश को अन्त्यज के अन्तर्गत माना है। ये जातियाँ प्राय: नगर के बाहर निवास करती थीं।

डोंब— उद्योतन ने डोंब का उल्लेख कईबार किया है। एक प्रसंग में डोंब को पटह बजाने वाला कहा गया है, जिसके शब्दों से डोंब के बच्चे कभी भयभीत नहीं होते थे—(किं कोई डोंब - डिंमो "पडहयसद्दस उत्तरसइ")[112]। अन्य स्थलों पर भी डोंब को गाना गाने वाला एवं बांस की टोकरिया बनानेवाला कहा गया है तथा ये घरों में रहते थे[113]। डोंब को "पाण" भी कहा गया है[114]।

पक्कण- कुल— उद्योतन सूरि ने पक्कण-कुल का उल्लेख अधमकुल एवं चाण्डाल कुल के अर्थ में किया है[115]।

रत्नपुरी में चाण्डालों के घरों पर भी पताका फहराता थी[116]। चाण्डालों को म्लेच्छ सदृश कहा गया है[117]। "अन्तकृददशा[118]" तथा मनुस्मृति में [119] आदि से ज्ञात होता है कि चाण्डाल मुर्दे ढोते थे।

मेरिय वाद्य को बजाने वालों की एक अलग जाति थी। सम्भवत: ये कबूतर भी पालते थे[120]।

बोक्कस:—ये धर्म का एक अक्षर भी नहीं जानते थे[121]। "सुन्तनिपात[122]" और अंगुत्तर निकाय[123] में इन्हें पुक्कुस कहा गया है। निषाद और अम्बष्ठ के संयोग से उत्पन्न संतान को पुक्कुस कहा गया है[124]। उद्योतन सूरि ने शौकरिकों को अनार्य एवं म्लेच्छ कहा है। इन्हें कर्मगुगुप्सि जाति भी कहा गया है[125]।

यद्यपि आठवीं शताब्दी में अन्त्यज जाति के लोगों की दशा अधिक अच्छी प्रतीत नहीं होती। किन्तु इसके पश्चात् उनमें भी सुधार होना प्रारम्भ हो गया। जिनेश्वर के कथाकोश प्रकरण[126] एवं अलबरुनी के विवरण के अनुसार[127] अन्त्यजों में से कुछ जातियों की श्रेणियां उनकी आर्थिक एवं सामाजिक दशा को उन्नत करने में सहयोगी थीं[128]।

कर्मकार जातियाँ:–उद्योतन सूरि ने कर्मकार जातियों में कुम्हार[129], लुहार[130], अहीर[131], चारण्[132], काय[133], इभ्य[134], कप्पणिया[135], मागध[136] आदि का उल्लेख किया है।

आभीर:–सुवर्ण देवी प्रसूति के पश्चात एक गोष्ठ में जाकर किसी अहीर के घर में शरण लेती है, जहाँ अहीरिन उसको पुत्री समान समझ कर सेवा करती है।[137] आभीर एक ऐसी जाति का नाम, जिसका मूल पेशा गौपालन था। ईसा की तीसरी शताब्दी तक आभीरों ने अपना प्रमुख स्थान बना लिया था[138]। कुवलय माला में अहीर के निवास स्थान को गोष्ठ कहा गया है।[139]

चारण:–गांव-गांव में जाकर अपनी जीविका कमाने वाली जाति थी। सम्भवत: इनका कार्य प्रशस्तियाँ आदि गाना था। राजस्थान मं आज भी चारण जाति के लोग पाये जाते हैं।

काय-को उद्योतन ने अनार्य कहा है। यदि इसका सम्बन्ध कायस्थ से है तो वेदव्यास ने भी कायस्थों को शूद्रों में गिना है[140]। आठवीं शताब्दी में कायस्थ शब्द कर्मचारी के लिए प्रयुक्त होता था[141]।

इभ्य::– वाणिकों का समृद्ध समुदाय है।[142] 'प्रज्ञायपना' में आर्यो की जाति के अन्तर्गत इभ्य जातियाँ गिनाई गयी है[143]।

कप्पणिया:–सम्भवत: कपड़े के व्यापारी को कहा गया है, जिससे आजकल कापणिया प्रचलित है। जैनागमों इसे कप्पासिय, कपास का व्यापारी कहा गया है।[144]

मागधः–का उल्लेख उद्योतन ने देसी बनियों के साथ किया है[145]। आठवीं शताब्दी में मागध पशोगायकों की भी एक जाति थी, जो राज्य दरबारों में जाकर राजाओं का गुणगान करते थे[146]। अनार्य जातियों के प्रसंगों में अंध, भर रुचा, द्रविड़ एवं मालव[147] का मठ के छात्रों की बातचीत के प्रसंग में अरोट्ट[148], मालविय कणुज्ज सोरट्ठ, श्री कंठ का उल्लेख किया है।

आरट्टः–प्राचीन भारत में आरट्ट जाति के सम्बन्ध में बुद्ध प्रकाश का मत है कि पंजाब में अनेक समुदायों ने आयुधों को अपनी जीविका का साधन बना लिया था तथा उनके नये नियम विकसित हो गये थे। कौटिल्य ने इन्हे आयुधजीवी कहा है[149]।

इन्हें अरष्ट्रकाः भी कहा जाता था[150]। कुवलयमाला में प्रयुक्त 'आरोट्ट', 'आरट्ट' का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

गुज्जरः–उद्योतन सूरि ने गुर्जरपथिक (गुज्जरपहियएण)[151], गुर्जर बनिये[152] तथा गुर्जर देश[153] का उल्लेख किया है। प्रतिहार राजाओं के साथ गुर्जर शब्द का प्रयोग किस कारण हुआ इस विषय पर दशरथ शर्मा ने विवेचन प्रस्तुत किया है।[154] चौथी शताब्दी में वु-सुन उच्चारण गुसुर के रूप में होने लगा और गुसुर से भी 'गुर्जर' शब्द प्रयुक्त होने लगा। छठवीं शताब्दी में गुर्जरों का भारत में विशेष प्रसार हुआ है[155]।

कुवलय माला में कुछ विदेशी जातियों का वर्णन है जिनके नाम विदेशी है, परन्तु वे भारतीय समाज में सम्मिलित होती जा रही थीः–

शक, यवन, बर्बर, हूण, रोमस, पारस, खस, ताज्जिक, अरवाग, कोंचा, चंचुय एवं सिहला भारत में हूणों का आगमन लगभग चौथी शताब्दी में हुआ[156]। होआ-तुन और संस्कृत का 'हूण' एक ही जाति से अभिज्ञानित हैं[157]।

ग्यारहवीं:–शताब्दी तक इन्हे क्षत्रिय जाति में रखा जाने लगा। हूण जातियाँ पंजाब की जनता में अत्यधिक मिश्रित हो गयी हैं[158]।

विवाह

वासुदेव हिण्ड़ी के अनुसार विवाह-परम्परा का प्राचीनत्व ऋषभनाथ के समय से देखा जा सकता है। इस परम्परा के अन्तर्गत, ऋषभ सर्वप्रथम थे, जो विवाहित हुये। इस परम्परा के संस्थापक देवताओं के स्वामी (देवराया) थे[159]। ब्राह्मण वर्ण के लोग सभी चार वर्णो की महिलाओं से विवाह करने के लिए सक्षम थे[160]। परन्तु, सामान्यत: वैवाहिक सम्बन्ध का प्रचलन अपने ही वर्ण में अधिक प्रचलित था[161] या उन परिवारों के साथ जिनकी सामजिक स्थित सम थी (सरिस कुल)[162] स्मृतियों[163] में संदर्भित आठ प्रकार के विवाह जो परम्परागत प्रचलित थे, उनमें एक (गंधव विवाह धम्म)[164] गांधर्व विवाह का संदर्भ, वासुदेव हिण्डी में प्राप्त होता है, जबकि कुछ अन्य प्रकार के विवाहों को दो रुपों में वर्गीकृत किया जा सकता है अर्थात् 'आसुर' और राक्षस। वासुदेव हिण्डी, के अनुसार अधिकतर विवाह माता-पिता द्वारा निश्चित किये जाते थे।

गांधर्व विवाह:–दूल्हा और दुलहिन प्रेम हो जाने के कारण चुप के से विवाह कर लेते थे। इस प्रकार के विवाह का उदाहरण वासुदेव हिण्डी के धम्मिल और मेहमाला[165], धम्मिल और विमल सेना[166] और वासुदेव और पियमगुसुम्दरी[167] कें विवाहों से प्राप्त होता है। इस प्रकार के विवाह में कोई धार्मिक कृत्य नहीं सम्पन्न होते थे। धम्मिल देवता के समक्ष नतमस्तक होकर, नवविवहिता पत्नी का दाहिना हाथ स्वीकार किया।[168]

राक्षस विवाह:–इस प्रकार के विवाह में वर नववधू का अपहरण कर लेता था[169] या बिना नववधू की सहमति के ही भगा ले जाता था[170] या जैसा कि स्वयंवर में[171] या अन्यथा।[172] इस प्रकार की रीतियों का प्रचलन योद्धा वर्ग में था।

माता-पिता द्वारा विवाह व्यवस्था:—वासुदेव हिण्डी में बाल-विवाह का संदर्भ नहीं है। वर और नववधू जब विवाह के योग्य हो जाते थे तभी वैवाहिक सम्बन्ध होते थे। वासुदेव हिण्डी के अनुसार सगाई, कभी-कभी बचपन में ही हो जाती थी[174]। ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि भाई और बहिन अपने बच्चों का विवाह निश्चित कर लेते थे[175]।

स्वयंवर-विवाह:—स्वयंवर विवाह का वर्णन वासुदेव हिण्डी से प्राप्त होता है। युवती अपनी इच्छानुसार वर का चुनाव व्यक्तिगत रूप से कर लेती थी।[176] स्वयंवर में आमन्त्रित वरों का चुनाव सार्वजनिक रूप से भी कुमारियाँ करती थीं।[177] इस प्रकार की विशेष सुविधा राजघराने की कुमारियों को प्राप्त थी।[178] इस प्रकार के विवाहों के परिणाम, चूंकि राजनैतिक हो सकते थे, इसलिए राजा अपने मन्त्रियों का परामर्श प्राप्त करता था[179] कभी-कभी प्रतियोगी वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे। प्रतियोगी वर को नृत्य-गान में अपनी श्रेष्ठता का परिचय देना पड़ता था।[180] प्रतियोगिता के द्वारा वैवाहिक संदर्भ केवल वासुदेव हिण्ड़ी में उपलब्ध है।

हरिभद्र के विचारों के अनुसार विवाह का लक्षय जीवन में पुरुषार्थो को सिद्ध करना था। गृहस्थ जीवन का धर्म दान देना, देव पूजा करना एवं मुनिधर्म को प्रश्रय देना है। साधु-संतो को दान देने का कार्य गृहस्थ जीवन के अभाव में सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसलिए विवाह एक गृहस्थ के लिए आवश्यक था। समाज शास्त्र की दृष्टि से विवाह का कार्य और उद्देश्य निम्न है—

1. स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध का नियन्त्रण और वैधीकरण,
2. सन्तान की उत्पत्ति, सरंक्षण, पालन और शिक्षण,
3. नैतिक, धार्मिक और सामाजिक कत्तव्यों का पालन।

उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में विवाहोत्सव का वर्णन किया है।

हरिभद्र ने विवाह के महत्वपूर्ण कार्य और उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "कुसलेण अणुयत्तिव्वो लोयधम्मो, कायव्वा कुसलसंतती, जइयव्वं परोव पारे, अणुयत्तिव्वो कुलक्कमों"[181]। अर्थात कुशल बनकर लोक धर्म-सांसारिक कार्यो को करना, योग्य संतान उत्पन्न करना, परोपकार में लगे रहना, कुल परम्परा के अनुसार कार्य करना विवाह का लक्षय है। विवाहित जीवन द्वारा लोक धर्म का अभ्यास कर लेने पर, गृहस्थ आश्रम के अनुभवों द्वारा परिपक्वता प्राप्त कर लेने पर, पुरुषार्थ के सिद्ध हो जाने पर, वंश के प्रतिष्ठित हो जाने पर, लोकशक्ति का अनुभव होने पर, विकारों के समाप्त होने पर, सद्गुणों का अविर्भाव हो जाने के पश्चात्, सन्यास ग्रहण करना उचित होता है। जीवन के विकास के लिये, विवाह आवश्यक है। जैन कथाओं से विवाह के प्रकारों पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता है। राजधरानों में प्रेम-विवाह होते थे। कुसुमावली और सिंह कुमार का विवाह तथा विलासवती और सनत्कुमार का विवाह प्रेम-विवाह था[182]।

राजघरानों को छोड़ कर जनसाधारण में विवाह के लिये निम्न मानदण्ड थे[183]:—

1. वय-रूप,

2. विभव,

3. शील,

4. धर्म,

वय का अर्थ यह था कि वर और कन्या समान आयु के हों। दोनों की सुन्दरता भी सम हो। अतः हरिभद्र ने वर-कन्या की प्रथम अर्हता समान वय-रूप मानी है। धन-सम्पत्ति में भी दोनो समान होने चाहिए अतः हरिभद्र ने समान वैभव को दूसरी योग्यता माना है।

समान शील वर कन्या के लिये तो सरी योग्यता है। इसका अर्थ परिवार की कुलीनता से है। इसलिए वर-कन्या का कुल समान होना चाहिए।

विवाह के लिये हरिभद्र ने धर्म को भी एक योग्यता माना है। समान धर्म मानने वालों का सम्बन्ध श्रेयस्कर होता है। यदि पति पत्नी विपरीत धर्म के अनुयायी हैं तो जीवन कलहपूर्ण होगा। समान धर्म होने के कारण कटुता नहीं उत्पन्न होती है। विपरीत धर्म का अनुयायी होने के कारण सौहार्द पूर्ण वातावरण समाप्त हो जाता है। हरिभद्र ने स्पष्ट कहा है "संजोएभि अवच्वं असाहम्मिएणं[184] ।"

सन्तान का विवाह विपरीत धर्म के अनुयायी के साथ नहीं होना चाहिए। शील परीक्षा नामक लघुकथा में सुभद्रा का विधर्मी से विवाह होने का कटुफल हरिभद्र ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। सुभद्रा जैन धर्म की अनुयायी थी और उसके ससुराल पक्ष के लोग बौद्ध धर्म को मानते थे। घर का वातावरण द्वेषपूर्ण हो गया सुभद्रा की सास और ननदों ने उसके जीवन को नरक तुल्य बना रखा था। उसके ऊपर दुष्चरित्रता का लांछन लगाया परिणाम स्वरूप उसे पतिब्रता की परीक्षा देनी पड़ी[185] ।

हरिभद्र ने वर खोजने की[186] प्रथा का भी संदर्भ दिया है। शंखपुर के राजा शंखायन ने अपनी कन्या रत्नवती का एक सुन्दर चित्र बनवाकर उसके समान रुप सौन्दर्य और कला प्रवीण वर की खोज कराया। चित्र और संभूति नाम के व्यक्ति स्थान-स्थान पर उस चित्र को लेकर वर को खोज के लिये गये थे। हरिभद्र ने विवाह संस्कार में की जाने वाली क्रियाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है:–(**समराइच्चकहा** पृ. 93-100–का ऊण य नेहि)

1. वाग्दान–विवाह के लिए वाक्दान के अवसर पर मंगलवाद्य और नृत्य का प्रचार था,

2. विवाह का शुभ दिन निश्चित करना–विवाह की तिथि निश्चित करने के लिए ज्योतिषी आमन्त्रित किये जाते थे,

3. यथोचित दान की घोषणा–विवाह निश्चित हो जाने पर दान दिया जाता था,

4. वरवधु का तैलाभ्यंगन—सुगन्धित पदार्थो का लेप, दूब के अंकुर, दधि, अक्षत आदि मांगलिक पदार्थों द्वारा लाल वस्त्र पहने हुई सधवा स्त्रियों द्वारा प्रमृक्षण क्रिया,

5. समज्जन—सुवर्ण कलशों द्वारा सुगन्धित जल से स्नान,

6. नहछू कर्म,

7. विवाह के पूर्व स्वस्तिवाचन,

8. वधू अलंकरण—महावर, स्तनों पर पत्र लेखन अधर रंजित करना, नेत्रों में अंजन, तिलक, केश प्रसाधन, पैरों में नूपुर, अंगुलियों मे मुद्रिका, नितम्बों पर मणिमेखला, बाहुमाला, स्तनों पर पद्मराग मणि घटित वस्त्र, मुक्ताहार, कर्णाभूषण और मस्तक पर चूडामणि,

9. वर अलंकरण,

10. मण्डप का निर्णाण,

11. लग्न निश्चितत करना,

12. बारात का जनवासे से प्रस्थान,

13. वर का मण्डप में विलासिनियों द्वारा स्वागत्

14. भौंह का स्पर्श,

15. सखियों द्वारा वधू के घूँघट का हटाना,

16. वर वधू का आपस में एक दूसरे का मुख देखना,

17. गठजोड़,

18. पाणिग्रहण,

19. वारातियों का स्वागत सत्कार,

20. हवन की क्रिया,

21. चारभांवर—पहले भांवरपर दहेज में सौ स्वर्ण कलश, दूसरी पर हार, कुण्डल, कर्धनी, कंगन तीसरी पर चांदी के थाल और चौथी वार भांवर पर मूल्यवान वस्त्र दिये गये।

बहुविवाह–जैन कथाओं में पुरुषों के बहुविवाह की चर्चा कई स्थानों पर की गयी है। एक पत्नी प्रथा को इन्होने सर्वोत्तम माना है और व्यवहार में एक ही विवाह की प्रथा थी परन्तु अपवाद स्वरूप एक से अधिक पत्नियों की भी प्रथा थी। हरिभद्र के पात्रों में राजा तो प्रायः एक-से अधिक विवाह करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। राजा समारादित्य का विवाह विभ्रमवती और कामलता नाम की दो कन्याओं के साथ हुआ था[187]। सेठ अर्हदत्त ने चार विवाह किये थे[188]। एक स्त्री के भी एक से अधिक पति होने की भी बात अपवाद स्वरूप पायी गई है। इस का संदर्भ हरि भद्र की एक लघुकथा में मिलती है। बताया गया है कि एक स्त्री के दो पति थे[189]। वे दोनों सगे भाई थे। वह स्त्री उन दोनों को समानरूप से आदर करती थी। लोगों में यह चर्चा फैल गई कि संसार में एक ऐसी नारी है जो दो व्यक्तियों को समान रूप से प्यार कर सकती है। इस बात की लोगों ने जाँच पड़ताल की कि एक नारी दो व्यक्तियों को समानरूप से प्यार नहीं कर सकती है[190]। जैन कथाओं के अनुसार अल्प आयु में नारी विधवा होने पर जन्मपर्यन्त तपस्या करती हुई धर्मसाधना करते देखी गई है। गुणश्री, रत्नमती, विलासवती के शील के उच्च रूप उपस्थित कर एक विवाह का ही समर्थन किया है। नारी के दो पति होने की बात अपवाद है।

कुवलयमाला में विवाहोत्सव का वर्णन है। कुमारी कुवलयमाला का विवाह निश्चित होने पर राजभवन में निम्न तैयारियॉ होने लगीं। ज्योतिषी को बुलाकर विवाह का मुहूर्त निकलवाया गया। ज्योतिषी ने फाल्गुन सुदी पंचमी दिन बुधवार को स्वातिनक्षत्र में रात्रि के प्रथम पहर बीत जाने एवं द्वितीय प्रारम्भ होने क समय लग्न का मूहूर्त बतलाया। लग्न का

समय आते ही विभिन्न तैयारियाँ होने लगीं। धान दले गए तथा। उसे साफ कर चावल तैयार किए गये[191]। विभिन्न प्रकार की मिठाइयाँ बनवाई गयीं। खाद्य सामग्री को एकत्र किया गया। कुम्हारों से बर्तन मँगाये गये। मंच शाला तैयार करायी गयी धवल गृह को सजाया गया। वरवेदी रची गयी। बन्दनवार बँधवाया गया। रत्नों की परीक्षा करवाई गयी। हाथी, घोड़ों को सजाया गया राजाओं को निमन्त्रण भेजे गये। लेखवाह भेजे गये। बंधु जनों को आमंत्रित किया गया भवनों के शिखर सजाये गये, दीवालों की सफेदी की गई, गहने बनवाये गये, अंकुर रोपे गये, देवताओं की अर्चना की गई, नगर के चौराहे सजाये गये, कपड़ों के थान फाड़े गये, कुर्यासक सिलवाये गये, पताकाएँ फहरायी गयी तथा मनोहर चँवर तैयार करवाये गये। यहाँ तक कि उस नगर में कोई ऐसी महिला व पुरुष नहीं था जो कुवलयमाला के विवाह कार्य में प्रसन्नता पूर्वक व्यस्त नहीं था[192]। विवाह की लग्न आते हो कुवलयमाला की माता ने अपने होने वाले दामाद को स्नेह पूर्वक स्नान करवाया। अपने वंश, कुल, देश, समय एवं लोकानुसार मांगलिक कौतुक किऐ। श्वेत वस्त्र पहिना कर तिलक किया, कंधे पर श्वेत पुष्पों का हार पहिना कर महेन्द्र के साथ मण्डप में लाया गाया[193]। कुवलयमाला भी श्वेत वस्त्रधारण कर मांगलिक मोतियों के गहने पहनकर वेदी पर बैठ गयी। समय होते ही अग्नि होत्र शाला में अग्नि प्रज्वलित की गयी, क्षीर वृक्ष की समिधा और घी की आहुति दी गयी। कुल के वृद्ध जनों के समक्ष राजा के समक्ष, अनेक पेद पाठी ब्राह्मणों के मध्य लोकपालों को आमन्त्रित किया गया, दृढ़वर्मन् का नामलेकर कुमार के हाथ में कुवलय माला का हाथ दिया गया। कुमार ने जैसे ही कुमारी का हाथ पकड़ा तूरबज उठे, शंख फूँके जाने लगे, झल्लरी बजायी गयीं, पंडित मंत्र पढ़ने लग गये। ब्राह्मण मन्त्र पढ़ते हुये आहुति देने लगे और भँवर प्रारम्भ हो गये, चौथा भँवर पूरा होते ही जय-जय के शब्दों से मंडप गूंज उठा[194]। महिलायं गीत गाने लगीं। विवाहोत्सव में गीत गाना अनिवार्य था क्योंकि ऐसे अवसरों पर गान केवल मनोरंजन का साधन नहीं था अपितु विश्वास किया जाता था कि यदि वे देवताओं को प्रसन्न करेंगे, तो वे अमंगलो को दूर करेंगे और वर-वधू को सौभाग्य प्रदान करेंगे[195]।

नारी

आगदत्त[196] एक सारथी थे जो सन्यासी हो गये। आगदत्त ने नारी के चरित्र पर एक आश्चर्यजनक टिप्पणी किया "हिमालय की ऊँचाई नापना आसान है और गंगा के बालू के कणों को गिना जा सकता है परन्तु नारी के मन के अन्दर की बात को समझना अत्यन्त कठिन है। नारी पति के मार्ग मे बाधक होती है। वह इसलोक और परलोक दोनो के लिये पति के मार्ग में बाधक है[197]। यह टिप्पणी उस व्यक्ति की है जिसे यह ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी डाकुओं से अपने जीवन की रक्षा करने के लिये अपने पति को मारने के लिये तैयार थी। धम्मिल ने उपरोक्त टिप्पणी को स्वीकार नही किया। धनश्री[198] की कहानी की सहायता से जो एक व्यवसायी की पत्नी थी, एक दूसरा पथ नारी के चरित्र के सम्बन्ध में ज्ञात होता है। धनश्री अपने पति द्वारा त्याग दी गयी क्योंकि उसके पति के अन्तःकरण में सम्पूर्ण नारी जाति के विरुद्ध दुर्भाव की गाँठ दृढ़ हो गई थी। इसका कारण यह था कि वह अपनी माता के दुर्व्यवाहार से पीड़ित था। धनश्री जीवन पर्यन्त पतिब्रता रही यहाँ तक की एक राज्य अधिकारी उसके शील को भंग करना चाहता था जिसकी, धनश्री ने हत्या कर डाली। रुपयों को ऐंठ कर एक गणिका ने धम्मिल को घर से बाहर निकाल दिया[199]।

पति का पत्नी के ऊपर स्वामित्व

विवाह के दिन ही वेवावती ने घोषित किया कि आज से उसका (पतिका) अधिकार उसके जीवन पर हो गया और वह मेरा देव है।[200] पति के प्रति नारी का ऐसा दृष्टिकोण उभय लोकों के सम्बन्ध में प्रशंसनीय समझा जाता था।[201] सच्चभामा के एक कथन से पति के स्वामित्व का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है; पत्नी का शिशु जो उसके द्वारा (पति) प्यार पाता है वह शिशु पति के समान है और जो शिशु पति के द्वारा प्यार नहीं पाते हैं वे देखने में अच्छे नहीं होते।[202]

वासुदेव हिण्डी के अनुसार पत्नी सदैव अपने पतिब्रता धर्म के प्रति सावधान रहती थी। वासुदेव की एक पत्नी ने अपनी नौकरानी के माध्यम से पति के पास संदेश भेजा। पत्र में

उल्लिखित था कि वह कुंज मे उससे भेंट करें। वासुदेव को यह अच्छा नहीं लगा तथा वे पत्नी से भेंट करने बाग में नहीं गये[203]।

वहुविवाह-प्रथा

वासुदेव हिण्डी में सिव[204], संब[205], कान्हा[206], वक्कलसिरी[207], और दो नायक वासुदेव और धम्मिल—दोनो राज कुमारों के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजघरानों में वहुविवाह प्रचलित था। जंबू[208] और इम्भपुत्र[209] के उदाहरणें से ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि व्यवसायी वर्ग में भी बहुविवाह-प्रथा प्रचलित थी। इसके परिणाम-स्वरूप सह-पत्नियों में कलह उत्पन्न हो जाया करता था गया[210]। वासुदेव हिण्डी के अनुसार वासुदेव एक विशेष प्रकार की संहिता का अनुसरण करते थे और सभी पत्नियों के साथ न्यायोचित वर्ताव करते थे। यह पत्नियों की वरीयता[211] पर निर्भर करता था। एक आदर्श कुल-वधू अपने पति के रूप और विशेषताओं पर ध्यान न देकर, पति को देव समझती थी।[212] एक कुमारी जो राजघराने में जन्म लेती थी, पर्दे के अन्दर रहती थी, परन्तु जब सार्वजनिक अवसरों में उपस्थित होती थी, उस समय अपने मुंह को खोल देती थी[214] और नगर में वंद गाड़ी में चलती थी•। वासुदेव हिण्डी में उपरोक्त आदर्शो का अनुसरण, दूसरे शब्दों, में करने का संदर्भ है एक पत्नी अपने पति के प्रति निष्ठावान (पदिभत्ता) होती थी। वह किसी दूसरे आदमी के सम्बन्ध में सोच नहीं सकती थी। धमदंती में ऐसी निष्ठा पति के प्रति थी कि उसके ऊपर जंगल[215] में शेर और सांप हमला नहीं कर सकते थे। बंधुमती जो वासुदेव की एक पत्नी थी, उसका कहना था कि उसके पति सन्यासी, राजा और देवता[216] से भी महान हैं। वासुदेव हिण्डी में चरित्रहीन महिलाओं के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं जो समाज के विभिन्न वर्गो की थी, जैसे राजघराने[217], ब्राह्मण[218] और वैश्य के घरानों की[219]। स्त्रियों के स्वामिभक्ति का एक सुस्पष्ट उदाहरण एक व्यवसयी नागसेन की कहानी से प्राप्त होता है। इस कहानी के अनुसार जो व्यक्ति विवाहिता महिला के पातिब्रत का उलंघन करने का प्रयास करता था, उसे मृत्यु दण्ड का सामना करना पड़ता था। वासुदेव

हिण्डी के अनुसार एक स्वामिभक्त पत्नी यह प्रार्थना करती थी कि अगले जन्म में उसे वही पति प्राप्त हो।

गणिका

गणिकाओं की उत्पत्ति को प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् (चकवत्ती) भरत के समय से देखा जा सकता है एक कहानी[220] के अनुसार सामंतो ने अपनी कन्याओं को भरत के समक्ष प्रस्तुत किया। गणिका आगमन पर प्रधानरानी ने सम्राट से कहा कि उन्हें आगन्तुक-कक्ष तक ही सीमित रखा जाय और घर के अन्दर प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। गणिकाओं को गणों को सौंप दिया गया। गणों के साथ सम्बन्धित होने के कारण, उन्हें गणिका नाम से सम्बोधित किया गया।

वासुदेव हिण्डी में इसी प्रकार की एक अन्य कहानी का संदर्भ है।[221] चूंकि भरत की चौंसठ हजार पत्नियाँ पहले से ही थी इसलिए जो बत्तीस हजार कुमारियों को पुन: उनके सम्मुख प्रस्तुत किया गया, उन्हें भरत ने स्वीकार नहीं किया।

हरिभद्र ने समाज में नारी के स्थान का चित्रण कई रूपों मे किया है।[222] यथा कन्या, पत्नी, माता, विधवा, साध्वी और वेश्या।

कन्या भारतीय समाज में कन्याओं का जन्म संपूर्ण परिवार को गंभीर बना देता है। उसकी पवित्रता और सुरक्षा के सम्बन्ध में अत्यन्त ऊंचे भाव एवं उसके विवाह और भावी जीवन की चिंता से समस्त परिवार और मुख्य रुप से माता-पिता त्रस्त रहते आये हैं। राजघरानों में भी कन्या की सुरक्षा का सभी प्रकार का प्रबंध रहता था। कन्या के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबंध रहता था। पढ़ने-लिखने के अतिरिक्त चित्र-कला और संगीत-कला की पूरी शिक्षा कन्याओं को दी जाती थी। कुसुमावली चित्र और संगीत कला के अतिरिक्त काव्य-रचना भी जानती थी। उसने सिंह कुमार के पास विरहविधुर हंसिनी के चित्र के साथ एक हंसपदिका

भी लिखकर भेजे थी। इस हंसपदिका से स्पष्ट ज्ञान होता है कि वह काव्य-रचना की कला को भी जानती थी। पुरुषों के समान सामूहिक रूप से कन्याओं के लिये भी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। हरिभद्र ने एक स्थान पर लिखा है—"अणहीयसत्थो ईइसो चेव इत्थियायणो होइ"[223]।

हरिभद्र की प्राकृत कथाओं के अवलोकन से प्रतीत होता है कि कन्याओं की शिक्षा में निम्न विषय सम्मिलित थे:—

1. लिखना-पढ़ना,
2. शास्त्र ज्ञान,
3. संगीत कला,
4. चित्र कला,
5. गृह-संचालन कला।

पत्नी—पत्नी का शाब्दिक अर्थ गृह स्वामिनी होता है। दम्पति की कल्पना में पति-पत्नी दोनों गृह के संयुक्त और समान रूप से अधिकारी होते हैं। श्वसुर के ऊपर साम्राज्ञी हो, देवर के ऊपर साम्रज्ञी हो[224]। यह वैदिक काल का आदर्श हरिभद्र के समय तक चला आ रहा था। घर में बहू की स्थिति का एक स्पष्ट उदाहरण हरिभद्र के उस स्थल पर मिलता है, जब गुण चन्द्र शत्रुराजा को परास्त करने जाता है और वानमन्तर उसकी मृत्यु का मिथ्या समाचार नगर में फैला देता है। वह अपने श्वसुर को बुलाकर अग्नि में प्रविष्ट होना चाहती है, किन्तु ससुर बहू को समझाता हुआ कहता है आप धैर्य रखें। मैं पवनगति से खवाहक को भेज कर युद्धस्थल से कुमार का कुशल समाचार मँगाता हूँ। पाँच दिनों में समाचार आ जायगा। आप समाचार प्राप्त होने पर जैसा चाहें वैसा करें[225]।

सास बहू के बीच मधुर सम्बन्ध होता था। पत्नी पति के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहती थी। हरिभद्र ने धन की विदेश यात्रा के समय धनश्री के स्पष्ट पूर्ण निवेदन और सास

द्वारा उसे साथ ले जाने के समर्थन से इस स्थिति का स्पष्ट चित्र उपस्थित किया है।[226] । पत्नी के शील पर आशंका उसका त्याग भी कर देते थे तथा द्वितीय विवाह भी कर लेते थे[227] । नव वधू का स्वागत घर में अच्छी तरह होता था।

माता–स्त्री के अनेक रुपों में मातृरुप सबसे अधिक आदरणीय और महत्व का माना जाता था। बन्ध्या होना स्त्री के लिए कलंक है। माता होने के साथ ही घर में स्त्री का स्थान बढ़ जाता है। गौतम धर्म सूत्र में उल्लेख है कि "गुरुओ में आचार्य श्रेष्ठ हैं, कई एक के मत में माता[228] । आपस्तम्ब का कथन है कि "माता पुत्र का महान कार्य करती है उसकी शुश्रूषा नित्य है, पतित होने पर भी[229] ।" बौद्धायन ने पिता-माता का भरण-पोषण करने के लिये कहा है[230] ।

महाभारत में माता की प्रंशसा में गया कहा है कि माता के समान कोई शरण नहीं और न कोई गति है[231] । समराइच्चकहा में वर्णित है कि, जय अपनी माता की प्रसन्नता के लिए विजय को राज्य सौंप कर मुनि बन जाता है। वह कहता है कि "करेउ पसायं अम्बा, पवज्जामि अट्ट समणत्णंति। भणिऊण निवडियो चलणेसु[232]"

वेश्या–हरिभद्र के उल्लेखों से मालूम पड़ता है कि उस समय इसको सामाजिक रूप प्राप्त था। मनुष्य की कामवासना और सौन्दर्य प्रियता ही इसके मूल में थी। वैदिक काल में[233] भी वेश्या के अस्तित्व के उल्लेख प्राप्त होते हैं। समराइच्चकहा के अनुसार वेश्याएं उत्सवों में नृत्य करती थीं[234] । विवाह के अवसर पर वर का श्रृंगार भी वारि विलासिनियां ही करती थीं।[235] । उस काल में वह इतनी घृणित नहीं समझी जाती थी। नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओं में ये निपुण होती थीं।

साध्वी–समाज में साध्वी का स्थान बहुत ऊँचा था और पूज्यनीया समझी जाती थीं। संसार से विरक्त होकर आत्मकल्याण के कार्यों में रत रहती थीं।

पर्दा–स्त्रियों के मुँह को ढँकना, उसको घर के अन्दर नियन्त्रित रखना एक विशेष प्रकार की प्रथा है। समराइच्च कहा के अनुसार, कुसुमावली विवाह के अवसर पर जब मण्डप में आती है तब उसके मुंह पर पर्दा पड़ा होता है[236]। सखियां उसका मुख खोल देती हैं। यह केवल लज्जा या विवाह की प्रथा के कारण ही है। कुसुमावली का पर्दा इसी प्रथा का परिणाम है।

सामाजिक संस्थाएँ

वासुदेव हिण्डी में कुबेरदत्त की कहानी[237] और अन्यत्र[238] में पारिवारिक सम्बन्धों का संदर्भ है:–भाई देवर, पौत्र, सौतेला पुत्र, भतीजा, चाचा, पति, पिता, पितामह, ससुर, माता, सासु, सह पत्नी, भौजाई, दादी और वधू। सासु को पितृस्वसा[239] और छोटे भाई की पत्नी को वधू[240] कहते थे। पति को अज्जपुत्त[241] से सम्बोधित किया जाता था।

परिवार का मुखिया–वासुदेव हिण्डी के अनुसार परिवार में [242] पिता का स्थान सर्वोपरि था। सम्पत्ति में वैधानिक भाग को दायभाग [243] कहा जाता था। परिवार के अल्प आयु के सदस्य अपने से वड़ों को हाथ जोड़कर [244] प्रणाम करते और पाँव छूते थे। कुमारियाँ सम आयु की लड़कियों को सहेली (वयसिनि) या हला[245] कहकर सम्बोधित करती थीं।

कुवलयमाला में प्रायः अभिजात्य वर्ग के समाज का चित्रण हुआ है। उद्योतन सूरि ने उसके अनुरूप ही अनेक सामाजिक संस्थाओं का उल्लेख किया है।

पारिवारिक जीवन–समाज में परिवार एवं विवाह का महत्व हमेशा सर्वोपरि रहा है।[246] उद्योतन सूरि के समय को इन संस्थाओं में काफी लचीलापन था।

कुवलयमाला के कथानक और वर्णनों के आधार पर तत्कालीन संयुक्त परिवार का चित्र उपस्थित होता है। उद्योतन सूरि ने संयुक्त परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का

वर्णन, पुत्र का परिवार में महत्व, परिवार के भरण-पेषण का उत्तरदायित्व, पति-पत्नी के सम्बन्धों का निर्वाह आदि अनेक पारिवारिक-जीवन के प्रसंगों का वर्णन किया है। सांसारिक एवं आध्यात्मिक लक्षयों की पूर्ति में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।[247]

संयुक्त परिवार—कुवलयमाला में चंडसोम, मानभट एवं गरूड पक्षी की कथाओं के प्रसंग में संयुक्त परिवार का चित्रण हुआ है। चंडसोम अपने माता-पिता, भाई एवं बहिन के साथ रहता था।[248] मानभट अपने माता-पिता एवं पत्नी का जीवनाधार था।[249] गरूड़ पक्षी के कथानक द्वारा उद्योतन-सूरि ने उसके परिवार के निम्न सदस्यों का वर्णन किया है, जिनसे वह दीक्षा लेने के लिए अनुमति चाहता है-पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, अनुज, ज्येष्ट बहिन, छोटी बहिन, पत्नी, संतान, ससुर एवं सासु।[250]

पुत्र—पुत्र के बिना समृद्धशाली पुरूष पुष्पों से युक्त फलरहित वृक्ष के समान माना जाता था।[251] पुत्र की इसी महत्ता के कारण पुत्र लाभ प्रसन्नता का कारण था।[252] पुत्र की अचानक मृत्यु पर परिवार के अन्य सदस्य स्वयं को असहाय अनुभव कर अनुमरण कर लेते थे।[253] पुत्र पिता के रहते हुए भी अपनी शक्ति के बल पर धन कमाते थे।[254] पिता के बाद परिवार के भरण-पोषण का ध्यान रखते थे।[255] पुत्र पिता के उत्तरदायित्व को सम्हाल लेता था।[256]

पुत्री—कुवलयमाला की कथा से ज्ञात होता है कि कुवलयमाला के जन्म होने पर पुत्र-जन्म के दिन से ही उत्सव मनाया गया।[257] बारहवें दिन नाम संस्कार किया गया और क्रमशः अनेक कलाओं की शिक्षा दी गयी।[258] छोटी-बड़ी बहनें भाई के ऊपर निर्भर रहती थीं।[259] चण्डसोम, मोहदत्त आदि की कहानी से ज्ञात होता है कि पुत्रियां भरण-पोषण एवं मनोरंजन आदि कार्यो के लिये अपने परिवार के ऊपर आश्रित थीं। विवाह हो जाने पर यदि पति विदेश गया हो तो पुत्री पिता ही के घर पर रहकर समय व्यतीत करती थी। परिवार में

कितने बच्चे होने चाहिये इसका कोई नियम तो निश्चित नहीं है, किन्तु गरूड़ पक्षी के कथानक से ज्ञात होता है कि उसके तीन बच्चे थे-एक कंधे पर बैठा था, दूसरा गले में झूल रहा था एवं तीसरा पीठ पर चढ़ था।[260]

माता पिता—संयुक्त परिवार में पति-पत्नी एवं उनकी संतान के साथ पति के माता-पिता भी रहते थे। पुत्र द्वारा युवावस्था में गृह त्याग के कारण माता-पिता अपने आलंबन की चिन्ता करते थे।[261] मानभट के माता-पिता पुत्र को मृत जानकर अनाश्रित हो जाने के कारण स्वयं कुएँ में कूद पड़े।[262]

उद्योतन सूरि ने निम्न संस्थाओं का उल्लेख किया है:—देवकुल[263], मठ[264], पाठशाला[265], समवसरण[266], अग्निहोत्र शाला[267], एवं ब्राहमण शाला।[268] देवकुल तत्कालीन स्थापत्य का प्रचलित शब्द है। नगर के विभिन्न स्थानो पर सामूहिक देवकुलों का निर्माण होता था। इनके निर्माण के लिए नगर के श्रेष्ठी दान करते थे-करावेसु देवउले[269] इनमें केवल देव अर्चना ही नही होती थी, अपितु भूले भटके पथिक भी इनमे ठहर सकते थे। मठ का उल्लेख उद्योतनसूरि ने दो प्रसंगों मे किया है। कौशाम्वी नगरी में शाम होते ही धार्मिक मठों में गलाफोड़ आवाज होने लगती थी।[270] विजयपुरी के मठ में अनेक देशों के छात्र रहकर अध्ययन करते थे। ये मठ शिक्षा के वड़े केन्द्र होते थे।

सामाजिक-धार्मिक कृत्य

जन्मोत्सव:—प्राचीन भारतीय साहित्य में पुत्र-जन्मोत्सव के अनेक सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। कुवलयचन्द्र का जन्म होते ही प्रसूतिगृह में अनेक प्रकार के कार्य किये गए। मंगल-दर्पण मालाओं को उतारा गया।[271] पत्रलता द्वारा बालक की रक्षा के लिए सुन्दर सजावट की गयी—मुइ-रक्खा परिहरंतए।[272] परिचारिका सिद्धार्थी द्वारा गोरचना से सिद्ध किया गया ताबीज बनाया गया।[273] कालिदास ने इसी को रक्षाकरण्डक कहा है।[274] सुमटी को

बालक और देवी के लिए रक्षा मंडला ग्रहण करने को कहा गया।[275] पुत्र जन्म की सूचना मिलते ही राजा ने शरीर पर धारण किए हुये सभी आभूषण परिचारिका को दे डाले और जन्मोत्सव मनाने का आदेश दे दिया। राजा का आदेश मिलते ही सारे नगर में समुद्र की गर्जना की भाँति तूर का शब्द गूँज उठा। राजमहल कस्तूरी के चूर्ण से पूर दिया गया। महलों में वार विलासिनयों के नृत्य होने लगे। नगर के लोग भी उल्लास पूर्वक नृत्य करने लगे। राजा ने उदारतापूर्वक इतना दान दिया कि ऐसी कोई वस्तु नहीं थी जो उसके द्वारा प्रदान न की हो, ऐसा कोई व्यक्ति नही था, जिसे कुछ प्राप्त न हुआ हो।[276] जन्मोत्सव बारह दिनों तक मनाया जाता था। बारहवें दिन नाम संस्करण होता था।[277] यह दिन इष्ट-मित्रों सहित प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत किया जाता था।[278]

पंचधात्रि-संरक्षण—नामकरण के बाद कुवलयचन्द्र की देखभाल पाँच धाइयों को सौंप दी गयी।[279] जैन साक्ष्यों में मुख्यतया पाँच प्रकार की दाइयों का उल्लेख मिलता है—दूध पिलाने वाली, अलंकार करने वाली, नहलाने वाली, क्रीड़ा कराने वाली और बच्चे को गोद में लेकर खिलाने वाली।[280] इन दाइयों की कुशलता एवं कमजोरी का बालक पर कैसा प्रभाव पड़ता था इसकी विस्तृत जानकारी जैन कथाओं में प्राप्त होती है।[281]

अभिषेकोत्सव—राजा अपने पुत्र के लिये अपार धन उत्तराधिकार में छोड़ता था और राज्य तथा समाज के बड़े व्यक्तियों के समक्ष युवराज को राजा बनाया जाता था।[282] धीरे-धीरे यह कार्य उत्सव के रूप मे होने लगा। कुवलयचन्द्र के राज्याभिषेक के समय अयोध्या नगरी को सजाया गया। पूर्णरूप से सज जाने पर नगरी ऐसी प्रतीत होती मानो कोई कुलवधू सज धज कर अपने प्रियतम के आगमन की प्रतीक्षा कर रही हो।[283] नगरी के सज धज जाने पर दृढ़ वर्मन कुमार को अपने साथ हाथी पर चढ़ाकर नगर दर्शन के लिए निकल पड़ा। नगरवासियों ने कुमार का स्वागत किया।[284]

नगर दर्शन के बाद कुवलयचन्द्र ने आस्थान-मण्डप में प्रवेश किया तथा विविध पंचरंगी मणियों से निर्मित मेधधनुष की शोभा से युक्त सिहासन पर वह बैठा। जय-जय शब्दों के साथ महाराज और सामंतों ने मणियों से चित्रित गीले कमल एवं कोमल हरे पत्तों से ढके हुए कंचनमणि निर्मित कलशों को हाथों पर उठाकर मागंलिक शब्दों के साथ कुमार का अभिषेक किया तब राजा और बृद्ध सामंतो ने कुमार को आशिर्वाद दिया और वे सामने आसनों पर बैठ गये।[285]

इन्द्रमहः—उद्योतनसूरि ने नवपावस के बाद, इन्द्रमह, महानवमी, दीपावली, देवकुल-यात्रा, वलदेव महोत्सव आदि का उल्लेख किया है।[286] इन्द्रमह वड़े धूम-धाम से मनाते थे। जैन परम्परा के अनुसार भरत चक्रवर्ती के समय से इन्द्रमह का प्रारम्भ माना जाता है।[287] रामायण, महाभारत एवं भास के नाटकों में भी इसका उल्लेख है।[288] वर्षा के बाद जब रास्ते स्वच्छ हो जाते तब इस उत्सव की धूम मचती थी।[289] जैन साहित्य में इन्द्रमह मनाने के अनेक उल्लेख हैं।[290]

इन उत्सवों में आमोद प्रमोद के साथ इन्द्रकेतु की पूजा भी होती थी।[281] इन्द्र की पूजा कृषक अपनी अच्छी फसल के लिये एवं कुमारियाँ अच्छे सौभाग्य प्राप्ति के लिए किया करती थीं।[292] सौभाग्य प्राप्ति का हेतु होने के कारण इन्द्र पूजा वसंत ऋतु में भी की जाने लगी थी।[293] इन्द्रमह एक लोकोत्सव के रूप में मनाया जाता था।[294]

महानवमीः—कुवलयमाला में महानवमी पर्व का दो वार उल्लेख हुआ है। स्थाणु को ठगने के बाद मायादित्य जब लौट कर आता है तो उसे सुनाता है कि वह नवमी महोत्सव के लिए बलि दने हेतु किसी गृहस्वामी द्वारा पकड़ लिया गया था और जब घर के सब लोग नवमी का स्नान करने नदी में गये तो वह पहरेदार की ऑख बचाकर भाग आया।[265] दूसरे प्रसंग में वर्षा ऋतु के पश्चात महानवमी महोत्सव मनाये जाने का उल्लेख है। महानवमी

महोत्सव के प्राचीन साहित्य में अन्य सन्दर्भ भी मिलते हैं।[296] दीपावली की धार्मिक पृष्ठभूमि इसके साथ आज भी बनी हुई है। उद्योतन ने दीपावली का उल्लेख एक बार किया है।[297]

कौमुदी महोत्सव—समराइच्चकहा में इस उत्सव का उल्लेख है। यह उत्सव सम्भवतः शरद पूर्णिमा को होता था। युवक-युवतियाँ बाग-बगीचों और लतागृहों में जाकर नृत्य-गान का आनन्द लेती थी।[298] कुवलयमाला में सागरदत्त की कथा में कौमुदी महोत्सव का वर्णन किया गया है। उद्योतन ने इसे शरद-पूर्णिमा महोत्सव कहा है।[299] किन्तु प्राचीन साहित्य में कौमुदी-महोत्सव दीपावली से भिन्न बताया गया है।[300] कुवलय माला के अनुसार इस महोत्सव में नगर के चौराहों पर नटों के नृत्य होते थे।[301] नट मंडली के कुछ चारण आदि व्यक्ति महोत्सव मे सम्मिलित श्रेष्ठजनों की स्तुति करते थे तथा रसिक श्रेष्ठिपुत्र एक लाख तक का पुरस्कार इन भरत पुत्रों को देने की घोषणा करते थे।[302] आगे चलकर रानियाँ भी अन्य प्रतिष्ठित महिलाओं के साथ इस उत्सव में सम्मिलित होने लगी थी।[303]

मदन महोत्सवः—इस उत्सव का प्रचार प्राचीन भारत में अत्यधिक था।[304] यह उत्सव चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को प्रायः सम्पन्न किया जाता था। हरिभद्र के वर्णन के अनुसार आम्र मंजरी के आने पर उद्यान रक्षक राजा को मंजरी भेंट करता था। राजा नगर भर में घोषणा कराके नागरिकों को सार्वजनिक उद्यान में उत्सव मनाने का आदेश देता था। सभी वर्ग के व्यक्ति नृत्य गीत के साथ नाटक, अभिनय आदि का आयोजन करते थे। नगर की सड़के सुगन्धित जल से छिड़की जाती थी। केशर और कस्तूरी मिश्रित जल का छिड़काव किया जाता था। विचित्र वेश बनाकर युवकों की टोली नगर की सड़को पर बहुत लोगों से प्रशंसनीय बसंत क्रीड़ा का अनुभव करती हुई विचरण करती थी। उद्यान में पहुँचकर लोग विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाएं करते थे। राज परिवार में भवनोद्यान के वृक्षों पर झूले डाले जाते थे और युवतियाँ झूलती थीं। मदन-महोत्सव स्त्री पुरूष दोनों ही सम्पन्न करते थे। कुवलयमाला में इसका विस्तृत वर्णन है। बसंत ऋतु में मदन त्रयोदशी के आने पर पूजनीय, संकल्प-पूर्णकत्रा कामदेव के वाह्य

उद्यान में स्थित मंदिर की यात्रा करने के लिये अपनी धाय एवं सखियों सहित जाती हुई वनदत्ता को ममदन महोत्सव में आये हुए मोहदत्त ने देखा। दोनों में अनुराग हो गया।[305] स्त्री-पुरूष दोनों ही इस उत्सव में सम्मिलित होते थे।

अष्टमी चन्द्र महोत्सव—यह उत्सव भी स्त्रियों द्वारा मनाया जाता था एवं[306] पुरूष भी इसमें सम्मिलित होते थे। वे भी उत्सव का आनन्द उठाते थे, परन्तु प्रधानता नारियों की ही रहती थी।

मृत्यु-संस्कारः—मृत्यु संस्कार का वर्णन वसुदेव हिण्डी में उपलब्ध है। लोक मृतक सन्यासी का शव पालकी में रखकर एक जुलूस के साथ अग्नि संस्कार के लिये ले जाते थे। जुलूस के साथ तुरही बजाते थे और फूलों की वर्षा करते थे। चंदन की लकड़ी की चिता बनाई जाती थी और उस पर शव रखा जाता था। शव पर घी और मधु का लेप लगाया जाता था। तत्पश्चात चिता में आग लगाई जाती थी। कुवलयमाला के अनुसार मानभट अपने माता-पिता एवं पत्नी के शवों को कुएॅ से निकालकर उनका उचित संस्कार कररता है।[307] सुन्दरी के पति के मृत्यु हो जाने पर अर्थी बनायी गयी तथा उस ५र शव को रखा गया। उसे ले जाने के लिये सुन्दरी से कहा गया कि पुत्री, तुम्हारा पति मर गया है, उसे श्मशान ले जाकर अग्नि-संस्कार करने दो।[309] किन्तु सुन्दरी प्रेमान्ध हहोने के कारण इसके लिये तैयार नही हुई तथा स्वयं उस कंधे पर लादकर निर्जन स्थान पर ले गयी। क्योंकि वह अपने पति से बिछुड़ना नही चाहती थी।

अग्नि-संस्कार के बाद मृतक को पानी देने की प्रथा थी[309] जो पुत्र द्वारा सम्पन्न होती थी।[310] मृतक की अस्थयों को गंगा मे विसर्जन करने से धर्म होता है, ऐसी मान्यता थी।[311] चंडसोम अपने भाई एवं बहिन का अग्नि संस्कार कर ब्राहमणों को सर्वस्व दान कर तीर्थ स्थान को चला गया। मृतक को तर्पण देने के बाद ब्राहमणभोज भी कराया जाता था।[312]

सती प्रथा—कुवलयमाला में सतीप्रथा का दो बार उल्लेख है। सन्ध्या वर्णन के प्रसंग में सूर्य का अनुकरण करने वाली संध्या की उपमा अनुमरण करने वाली कुल वालिका से दी गयी है।[313] काम गजेन्द्र का यह सलाह दी गयी थी कि पति के मरने पर पत्नी का अनुमरण करना तो उचित है, किन्तु किसी महिला के लिए किसी पुरूष द्वारा अनुमरण करना शास्त्रों में निंदित माना गया है। इसी तरह का उल्लेख अन्य ग्रन्थों में मिलता है।[314]

वस्त्र और आभूषण

समराइच्चकहा में वस्त्रों का वर्णन इस प्रकार है:—

अंशुक[315]—एक प्रकार का महीन वस्त्र होता है। अनुयोग द्वार सूत्र में कीटज वस्त्र के पाँच प्रकार बतलाये हैं[316]—पट्ट, मलय, अंशुक, चीनांशुक और कृमिराग।

पट्टांशुक[317]—पाट सूत्र से बने वस्त्र।

चीनांशुक[318]—पतला रेशमी वस्त्र।

दुगुल्ल—यह वस्त्र मृदुल और स्फटिक के समान निर्मल था। उपरोक्त के अतिरिक्त देव दूष्य, दुकूल, अर्धचीनांशुक, उत्तरीय, स्तनाच्छादन, क्षौम युगल, तूली, गण्डोपधान, आलिंगणिका, मसूरक वस्त्रों का प्रचलन था।

उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में अनके वस्त्रों का उल्लेखँ किया है जिनकी सूची इस प्रकार है:—

1. अर्धसुवर्णवस्त्र युगल 2. उत्तरीय 3. उपरि पटांशुक 4. पटांशुक युगल 5. उपरिमवस्त्र 6. उपरिस्तनवस्त्र 7. कंठ-कप्पड 8. कंथा-कप्पड 9. जीर्ण कंथा 10. कंबल 11. कच्छा 12. कसिणायार 13. कसिणपच्छायण 14. कुस-सत्थर 15. कूर्पासक 16. क्षोम

17. गंगापट 18. चिंघय 19. चित्रपडी 20. चीरमाला 21. चीवर 22. चेलिय 23. थण उतरिज्ज 24. दरलीव 25. दिवयवस्त्र 26. धवलमदंध् 27. धूसर-कप्पड 28. घोत-धवल 29. णिथय-पंट्टसुं 30. नेत्र युगल, नेत्रपट 31. पटी 32. पड 33. पर-वसन 34. पोत 35. फालिक 36. भायन-कप्पड 37. मलिण-कुचेल 38. युगल 39. रत्त याइ-कप्पड 40. वल्कल दुकूल 41. समायोग 42. सिहावड 43. साटक 44. हंसगर्भ

समराइच्चकहा में उल्लिखित आभूषण इस प्रकार है—कटक, केयूर, कर्णभूषण, कुण्डल, मुक्तावली, नुपुर, मुद्रिका, मणिमेखला, मुक्ताहार, चूडा रत्न, विवध रत्न, खचित रशना, कलाप, कंकण, कण्ठाभरण, कटिसूत्र, रत्नजटित मुकुट। शरीर को स्त्री और पुरूष दोनो ही विभिन् प्रकार से सजाते थे।

कुवलयमाला में वर्णित अलंकारः—अट्ठ-कंठयाभरण, अवतंस, रत्न कंठिक, कंठिका, कटक, कटिसूत्र, मणिक्क-कटक, ललमाण-कटक, काँची, कणिरकाँची, कर्णफूल, किंकिणी, कुंडल, मणिकुंडल, रत्न कुंडल, जालमाला, दाम, दमिल्ल, नूपुर, मणिनूपुर, पाटला, महामुकुट, माला, मुक्तावली, मुक्ताहार, मेखला, मणिमेखला, रत्नावली, रत्नालंकार, रसणा मणिरसणा, वनमाला, वलय वैजयन्ती माला, सुवर्ण, हार, गीवासुत्त, चक्कल दारूण।

खण्ड-ब

आर्थिक दशा

जैन कथा साहित्य में वर्णित समाज की आर्थिक दशा का अनुमान समकालीन समाज के जीव को पार्जन के साधनों, व्यापारिक पद्धति एवं, मुद्रा आदि से लगाया जा सकता है। हरिभद्र की दृष्टि में अर्थ की बड़ी महत्ता है। "अत्थरहिओ खु पुरिसो अपुरिसो चेव"[319] अर्थात धन रहित व्यक्ति को पुरूष ही नही माना है। प्राचीन भारत के व्यापारिक क्षेत्र में यद्यपि धन कमाने का प्रमुख साधन अनेक वस्तुओ का क्रय विक्रय ही था, तथापि धनार्जन के लिए अनेक

उचित और अनुचित माध्यमों का भी उपयोग होता था। कुछ कार्य ऐसे थे जिससे धन तो आता था किन्तु वे उपाय निन्दनीय समझे जाते थे और कुछ कार्य एसे थे जो निन्दनीय नही थे, यद्यपि उनसे लाभ सीमित होता था। एक कथा मे कहा गया है कि अर्थ ही देवता है, यही सम्मान बढ़ाता है, यही गौरव पैदा करता है, यही मनुष्य का मूल्य बढ़ाता है, यही सुन्दरता का कारण है, यही कुल, रूप, विद्या और बुद्धि का प्रकाशन करता है।[320] धन के अभाव में मनुष्य की कोई भी स्थिति संभव नही है। सारे सुखों का साधन धन ही है।

जीविकोपार्जन के साधनः–हरिभद्र ने जीविकोपार्जन के मुख्य साधनों में असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और मृत्य कर्म को गिनाया है। हरिभद्र ने पूर्व परम्परा प्रचलित पन्द्रह कार्यों को खर कर्म कहा है और धर्मात्मा व्यक्ति को इनके करने का निषेध किया है। जैन आगम साहित्य में भी इन खर कर्मो का निर्देश मिलता है। उद्योतन सूरि ने धनार्जन के दो साधनों, निन्दित और अनिन्दत साधनों का उल्लेख किया है। निन्दित और अनिन्दित मायादित्य और स्थाणु के मन में जब धन कमाने की बात उठी तथा पहला प्रश्न यही उठा कि कैसे धन कमाया जाय, क्योंकि बिना धन के धर्म और काम दोनों लौकिक पुरूषार्थ पूरे नही हो सकते।[321] तब मायादित्य ने सुझाव प्रस्तुत किया-'मित्र, यदि ऐसी बात है तो वाराणसी चलो। वहाँ हम लोग जुआ खेलेंगे, सेंध लगायेंगे, कर्णाभूषण छीनेंगे, राहगीरों को लूटेंगे, जेब काटेंगे, मायाजाल रचेंगे, लोगों को ठगेंगे और वह सब काम हम करेंगे, जिस-जिस साधनसे धन की प्राप्ति होगी[322] स्थाणु को यह सुनकर बड़ी चिन्ता हुई। उसने इने धनार्जन के निन्दित साधन बतलाया, जो उसके साधु स्वभाव के विपरीत थे और उनको करने में दोष लगता था।[323] इन निन्दित साधनों के अतिरिक्त, जैन कथाओं में जीव-जन्तुओं को बेचकर धन कमाना निन्दनीय समझा गया है। जो ऐसा करता है वह मरकर दासत्व प्राप्त करता है।[324] जैन आगम साहित्य में निम्न कर्मो को करने का निषेध है[325]:–

1. इंगालकम्म—कोयला, ईन ईट आदि बनाने की जीविका, 2. वणकम्म—वृक्षों को काटकर बेंचना, 3. सागडिकम्म—गाड़ी बनाकर अथवा गाड़ी जोतकर जीविका चलाना, 4. भाडियकम्म—गाड़ी, घोड़े, खच्चर बैल आदि से बोझा ढोकर आजीविका चलाना, 5. फोडियकम्म—बर्तन आदि बनाकर बेंचना, 6. दन्त वाणिज्य—हाथी दांत आदि का व्यापार करना, 7. लक्ख वाणिज्य—लाख आदि का व्यापार करना, 8. केशवाणिज्य—केशों का व्यापार करना, 9. रसवाणिज्य—मक्खन, मधु आदि का व्यवसाय करना 10. विषवाणिज्य—विषादि प्राणधातक पदार्थो का व्यापार, 11. जन्तपीलणकम्म—कोल्हू, मिल आदि चलाने का कार्य 12. निल्लंछणकम्म—शरीर के अंग छेदने का काय जैसे बैल की नाक छेदना, बधिया करना, 13. दवग्गिदावणय—जंगल जलाना, 14. असइपोषणं—बिल्ली, कुत्ता पालना या दास-दासी पालकर भाड़े से आमदनी करना, 15. सर-दह-तलायस्सोसणय-तालाब, जलाशय सुखाने का कार्य।

धर्मबिन्दु एवं उपमितिभवप्रपंचकथा में ऐसे अनेक हिंसक कार्यो को धनोपार्जन के लिये निषेघ किया गया है।

कुवलयमाला में उल्लिखित है कि मायादित्य के पूछने पर स्थाणुने धनोपार्जन के निम्नोक्त अनिन्दित साधन बतलाये जो ऋषियों द्वारा कथित हैं[326]

1. देशान्तर में गमन (दिसि गमण), 2. साझीदार बनाना (मित्तकरणं), 3. राजा की सेवा (णरवर-सेवा), 4. नाप-तौल में कुशलता (कुसलत्तणं च माणप्पमाणेसु), 5. धातुवाद (धाउव्वाओ), 6. मंत्रसाधना (मंतं), 7. देव-आराधना (देवयाराहणं), 8. कृषि कार्य (केसिं), 9. सागर-सन्तरण (सायर-तरणं), 10. रोहण-पर्वत का खनन (रोहणम्मि खणं), 11. वाणिज्य (वाणिज्जं), 12. नौकरी आदि (णाणविहं चकम्मं)।

प्राचीन भारत में अर्थोपार्जन के साधनों में वाणिज्य को प्रमुख स्थान प्राप्त है। जैन कथा साहित्य में स्थानीय एवं विदेशी दानों प्रकार के व्यापार का उल्लेख मिलता है।

कुवलयमाला में वाणिज्य एवं व्यापार से सम्बन्धित विविध एवं विस्तृत जानकारी उपलब्ध है जिससे तत्कालीन समाज का आर्थिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

समराइच्चकहा में उल्लेख है कि व्यापार के लिये बड़े-बड़े जहाजी बेड़े चलाए जाते थे लोग सिंहल, सुवर्णद्वीप, रत्नद्वीप से धनार्जन कर लौटते थे। धन ने स्वोपार्जित वित्त द्वारा दान करने के लिये, समुद्र व्यापार करने का निर्णय लिया। वह अपनी पत्नी धनश्री और भृत्यनन्द को भी साथ लेकर "नाणापयार मण्डजायं[327]" अनेक प्रकार का सामान लेकर और जहाज में भरकर अपने साथियों के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में उसकी पत्नी धनश्री ने विष उसे दे दिया। अपने जीवन से निराश होकर उसने अपना माल भृत्य नन्द को सौंप दिया। कुछ समय के पश्चात जहाज महाकटाह पहुँचा और भृत्य नन्द सौगात लेकर राजा के समक्ष उपस्थित हुआ। यहाँ भृत्य नन्द ने माल उतरवाया और धन की चिकित्सा का भी प्रबन्ध किया पर उससे कोई लाभ नही हुआ। यहाँ का माल खरीदा गया और जहाज पर लाद कर प्रस्थान किया।[328]

पंचम भव की कथा में सनत्कुमार और वसुभूति सार्थवाह समुद्रदत्त के ताम्रलिप्ति से व्यापार के लिये चले। जहाज दो महीने में सुवर्णभूमि पहुँचा। इसके पश्चात् सुवर्ण भूमि से सिंहल के लिए चल दिये। तेरह दिन चलने के बाद एक बड़ा तूफान आया और जहाज पर नियन्त्रण न रहा।[329]

धरण की कथा से भी भारत, द्वीपान्तर और चीन के बीच जहाज द्वारा व्यापार करने की प्रथा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। यह वैजयन्ती बन्दरगाह से चलकर सुवर्णद्वीप पहुँचा और यहाँ उसने धातु क्षेत्र समझकर स्वनामांकित दस-दस ईटों के सौ सोने की ईटों के ढेर तैयार किये। इसके बाद उसने अपना पता देने के लिये एक दूसरा पोतध्वज लगा दिया। इसी बीच चीन से साधारण कोटि का सामान लादे हुए सुबदन सार्थवाह का जहाज जा रहा था। उसने नौका भेजकर धरण को अपने जहाज में बैठाया। जहाज के रवाना होते समय स्वर्णद्वीप की

स्वामिनी देवी ने उसे रोका। हेम कुण्डल की सहायता से वह रत्नद्वीप पहुँचा और वहाँ से रत्न प्राप्त किये।[330] इस प्रकार हरिभद्र के पात्र व्यापार करते हुये दिखलायी पड़ते हैं। धरण ने उत्तरापथ के प्रमुख नगर अचलपुर में चार महीने रहकर "विभाग संपत्तीए य विक्किणियमणेण मण्डं समासाइओ अट्ठगुणो लाभो।[331] अपना माल बेंच कर आठ गुना लाभ कमाया। जहाज द्वारा वाणिज्य के अतिरिक्त स्थल मे बैल गाड़ियों[332] द्वारा वाणिज्य सम्पन्न होता था। व्यापार 'चेलादिभण्ड'[333] वस्त्र, कपास, सन, अनाज आदि पदार्थों का होता था। हरिभद्र के समय देश की स्थिति अच्छी प्रतीत होती है। धन, धान्य, सुवर्ण, मणि, मौक्तिक, प्रवाल, द्विपद और चतुष्पट्[334]-पालतू पशु आदि सम्पत्ति थी।

स्थानीय व्यापारः-स्थानीय व्यापार के मुख्य केन्द्र दो थे:— विपणिमार्ग एवं बन्दरगाह। विपिणमार्गों में दैनिक जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं की बिक्री होती थी, जब कि बन्दरगाहों में विभिन्न् स्थानों के व्यापारी आकर थोक वस्तुओं की बिक्री करते थे। कुवलयमाला में इन दोनों प्रमुख केन्द्रों का वर्णन उपलब्ध है।[335]:-

विपिणमार्ग में 84 प्रकार की वस्तुओं की दुकानें होती थीं, इन्हे हट्ट कहा जाता था। कुवलयमाला में उल्लिखित विनीता नगरी के विपिणमार्ग में [336] विभिन्न वस्तुओं की दुकाने इस क्रम से थी:— एक ओर कुंकुम, कर्पूर, अगरू, मृगनामिवास, पडवास आदि सुगन्धित वस्तुओं की दुकाने थी[337] दूसरी ओर की दुकानों में इलायची, लोंग नारियल आदि फलों के ढेर लगे थे। उसके आगे मोती, स्वर्ण-रत्न आदि अलंकारों की दुकानें थीं। निकट ही काले, पीले, श्वेत रंग के नेत्रयुगल वस्त्र के थान दुकान में फैले थे। दूसरी गली में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों से दुकाने भरी थीं। उसके आगे किसी गली में सरस औषधियों की दुकानें थी।[338] दूसरी गली में शेख, वलय, कांच, मणि आदि की दुकानें लगी थीं।[339] आगे की दुकानों में बाण, धनुष, तलवार, चक्र, भाला, के ढेर लगे थे।[340] इसके आगे शंख, चामर, घंटा एवं सिंदूर आदि दुकानें थीं। अगली दुकानों में विविध प्रकार की जड़ी-बूटी तथा अनेक प्रकार के चंदन रख हुये थे।

आगे की गली की दुकानें पेय एवं खाद्य की दुकानें थीं। अन्त की दुकानों में अच्छी सुरा एवं मधुर मांस बिक रहा था।[341]

विपिणमार्ग के इस विस्तृत विवरण से स्पष्ट है कि स्थानीय बाजारों में आवश्यकता की लगभग सभी वस्तुयें उपलब्ध थीं। उद्योतन का यह कथन 'जो कुछ पृथ्वी पर सुना जाता है, देखा जाता है एवं हृदय में सोचा जाता है वह सब वहाँ बाजारों में उपलब्ध था।[342] प्रसाधन-सामग्री के स्टोर फालों की दुकानें, सराफा-बाजार, शस्त्र-भण्डार, दवा की दुकान, जलपानगृह, मदिरालय, खटीक खानना आदि तत्कालीन बाजारों कें प्रमुख विक्री के केन्द्र थे।[343]

व्यावसायिक मण्डियाँ—स्थानीय व्यापार के दूसरे मुख्य के केन्द्र बड़ी-बड़ी मण्डियाँ होती थीं। जिनमें देश के विभिन्न भागों से व्यवसायी व्यापार के लिये भ्रमण करते थे। इन मण्डियों को पैंठास्थान भी कहा जाता था। पैंठास्थानों में व्यापारियों को सभी सुविधायें उपलब्ध थीं। विपिणमार्ग में जो व्यवसाय होता था वह नगर के बड़े व्यवसायियों एवं उनके पुत्रों के लिए पर्याप्त नही थी। वे अन्य व्यापारिक मण्डियों में जाकर अपनी व्यवसायिक बुद्धि द्वारा अपनी सम्पात्ति बढ़ाने का प्रयास करते थे। अत: विभिन्न व्यापारिक-मण्डियों की वणिकों द्वारा यात्रा करना प्राचीन भारत में सामान्य बात हो गई थी। इन यात्राओं से सांस्कृतिक सम्बन्धों में भी वृद्धि होती थी।

कुवलयमाला में तक्षशिला के वणिक् पुत्र धनदेव द्वारा दक्षिणापथ में सोपारक मण्डी की यात्रा का विशद वर्णन है।[344] मायादित्य और स्थाणु भी दक्षिणापथ में प्रतिष्ठान मण्डी के लिए पूर्ण तैयारी के साथ निकले थे। इन प्रसंगों से व्यापारिक-यात्रा की तैयारी के सम्बन्ध में निम्नोक्त जानकारी प्राप्त होती है:—

1. धर्म एवं काम पुरूषार्थ को पूरा करने के निमित्त धन (अर्थ) कमाना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक था,[345] 2. अपने बाहुबल द्वारा अर्जित धन का सुख दूसरा ही होता है,

भले ही घर में धन अपार हो,[346] 3. निज-बाहुबल द्वारा अर्जित धन से दान एवं पुण्य का कार्य करना श्रेष्ठ समझा जाता था,[347] 4. धनार्जन के लिए जाते समय पिता की आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य था,[348] 5. दक्षिणापथ की यात्रा करना कठिन था। अतः व्यापारी पिता सम्भावित कठिनाइयों से पुत्र को अवगत कराते हुए उनसे बचने के कुशल उपाय बताता था तथा यात्रा की अनुमति देता था,[349] 6. यात्रा-प्रारम्भ करने के पूर्व इष्ट देवताओं की आराधना की जाती थी, 7. आवश्यक सामान साथ में लिया जाता था, 8. अन्य व्यापारियों को सूचना देकर उनसे सलाह ली जाती थी, 9. यदि पूँजी न हो तो प्रथम पूँजी की व्यवस्था की जाती थी[350] 10. कर्मकारों को इकट्ठा किया जाता था, 11. व्यापारियों को मार्ग में शबर डाकुओं का अधिक भय रहता था।[351]

कुवलयमाला में प्रयुक्त 'देसिय-वणिय-मेलिए' का अर्थ व्यापारियों के ऐसे संगठन से है, जिसके कुछ निश्चित नियम और कानून थे तथा जो व्यापारियों के हित में कार्य करता था। इस प्रकार व्यापारिक संगठन प्राचीन भारत में स्थापित हो चुके थे, जिन्हे 'निगम' कहा जाता था और जिनका प्रधान श्रेष्ठि होता था।[352]

व्यापारिक श्रेणी के लिये 'देसिय' शब्द सम्भवतः उद्योतन ने प्रथम बार प्रयुक्त किया है। जार्ज ब्यूलर ने 'देशी' शब्द का अनुवाद साहित्यिक निर्देशक (Literary Guide) किया है।[353]जबकि इससे अर्थ में **एपिग्राफिआ-इण्डिका** में 'देशी' का अर्थ श्रेणी **(GUILD OF DEALERS)** बताया गया है।[354] उद्योतन सूरि के कुछ समय के बाद के अभिलेखों में भी 'देसी' शब्द व्यापारियों के संगठन के लिए प्रयुक्त हुआ है।[355]

उद्योतन सूरि द्वारा प्रस्तुत वर्णन प्राचीन भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्वपूर्ण पक्ष उजागर (प्रस्तुत) करता है। इस सामग्री की उपयोगिता न केवल प्राचीन भारतीय वाणिज्य के परिप्रेक्ष्य में है, वरन यह विदेशी व्यापार में प्रयुक्त आयात-निर्यात की वस्तुओं की विस्तृत

जानकारी प्रस्तुत करता है। व्यापारी-मण्डल के इस प्रसंग का विस्तृत अध्ययन बुद्ध प्रकाश ने अपने लेख-'एन एर्थ सेन्चुरी इन्डियन डाकुमेन्ट आन इन्टरनेशनल ट्रेड' में किया है।[356]

जैन कथा साहित्य के विवरण से ज्ञात होता है कि दक्षिण कोशल में विशिष्ट प्रकार के हाथी पाये जाते थे, किन्तु वहाँ घोड़े बहुत अच्छी जाति के नहीं होते थे। इसलिए जब बाहरी व्यापारी घोड़े लेकर वहाँ पहुँचे तो वहां के राजा ने गजपोतों (हाथियों के बच्चे) के बदले में घोड़े खरीद लिये। व्यापारी लोग दुहरे लाभ के लिए ऐसी सामग्रियाँ अपने साथ ले जाते थे जिससे उन्हे दोनों ओर से लाभ प्राप्त हो जाता था। उत्तरापथ को जाने वाले व्यापारी ने अपने साथ सुपारियाँ ली, जो कि उस क्षेत्र में नहीं होती थीं और वहाँ से उसने घोड़े खरीदे, जो उसके क्षेत्र में नही होते थे। एक व्यापारी बारवाई गया। समुद्री सतह पर वहाँ शख बहुतायत में और अच्छे प्रकार के प्राप्त होते थे, इसलिए वह वहाँ से शंख लाया। बारवइ की पहचान वी0 एस0 अग्रवाल ने वर्तमान कंराची के निकट स्थित बखरी कोन से की है जो प्राचीन काल में एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था।[357] एक अन्य व्यापारी पलाश पुष्प लेकर स्वर्णाद्वीप गया और वहाँ से स्वर्णभरकर ले आया। यदि यह स्वर्णद्वीप सुमात्रा है तो उद्योतन् के समय वहाँ श्री विजय का राज्य था। पलाश पुष्प आयुर्वेद के अनुसार अनेक प्रकार के उपचारों में काम आता है। सुमात्रा में इसकी अधिक मांग रही होगी। स्वर्णद्वीपसोनने के लिए प्रसिद्ध था।[358] गंगापटी चीनी श्वेतशिल्क है, जिसे भारत में चीनांशुक तथा गंगाजुल कहा जाता था तथा नेत्रपट रंगीन शिल्क के लिए नया नाम था।[359] इस संदर्भ से यह ज्ञात होता है कि भारत और चीन के बीच सामुद्रिक आवागमन में वृद्धि हो चली थी।[360]

जैन कथा साहित्य के विवरण से ज्ञात होता है कि उस समय समुद्री-यात्रा कितनी कठिन थी। सदैव प्राणों का भय बना रहता था। जिसे अपना जीवन प्रिय न हो वही रत्नद्वीप की यात्रा कर सकता था—सुंदरो जस्स जीयं ना वल्लहं-अहो दुग्गमं रयणदीयं।[361] जैन कथा साहित्य के विवरण से आयात-निर्यात की निम्न वस्तुओं का पता चलता है[362]:—अश्व, गजपोत,

सुपारी, मुक्ताफल, चमर, शंख, नेत्रपट, गंगापटी, अन्य-वस्त्र, गजदंत का सामान, मोती, पलाश पुष्प, स्वर्ण, महिष, नीलगाय, पुरूष, नीम के पत्ते एवं रत्न। प्राचीन भारतीय व्यापारिक क्षेत्र में सुगंधित द्रव्यों एवं वस्त्रों का निर्यात तथा स्वर्ण और रत्नों का आयात प्रायः होता रहता था।

बन्दरगाहः–कुवलयमाला में प्रसिद्ध तीन बन्दरगाहों का वर्णन प्राप्त होता हैः–(1) सोपारक, (2) प्रतिष्ठान एवं (3) विजयपुरी

प्राचीन भारत में सोपारक नगर स्थानीय एवं विदेशी व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था। **बृहत्कल्पमाष्य**[363] और **पेरिप्लस**[364] के अनुसार यहाँ पर सुदूर देशों के व्यापारी आते थे। यह व्यापारियों का निवास स्थान था।[365] **कुवलयमाला** में यहाँ से रत्नद्वीप की समुद्री-यात्रा के प्रारम्भ होने का विस्तृत वर्णन है। प्रतिष्ठान का प्राचीन भारतीय व्यापार के क्षेत्र में प्रमुख स्थान था। वाराणसी के व्यापारी धन कमाने के लिए प्रतिष्ठान आते थे। यह नगरी धन-धान्य से समपन्न थी। इस बन्दरगाह में अनेक प्रकार के व्यवसाय होते थे, जिससे धन अर्जित किया जाता था।[366]

उद्योतन ने दक्षिण भारत की एक प्रमुख मण्डी का उल्लेख किया है। दक्षिण समुद्र के किनारे जयश्री नाम की महानगरी थी। इस नगरी का विपणि मार्ग काफी समृद्ध था। व्यापारियों की दुकाने अलग थीं, रहने के निवास स्थान अलग थे। इस बन्दरगाह से यवनद्वीप की ओर जाने के लिए समुद्री-मार्ग था। जब सागरदत्त ने व्यापार करने के लिये समुद्र पार जाना चाहा तो जयश्री मण्डी के व्यापारी ने समुद्र-पार बिकने वाली वस्तुओं का संग्रह करना प्रारम्भ कर दिया और थोड़े ही दिनों के पश्चात निर्यात का माल तैयार हो गया।[367] सागरदत्त सात करोड़ की कीमत की वस्तुएँ-मरकतमणि, मोती, स्वर्ण, चाँदी आदि वहाँ लेकर वापस लौटता है।[368]

विजयपुरी के सम्बन्ध में उद्योतन ने कुमार कुवलयचन्द्र के विजयपुरी पहुँचने के समय वहाँ की व्यापारिक नगर का सूक्षम वर्णन किया है। विजयपुरी नगरी मे प्रवेश करते ही कुमार

को अनेक मांगलिक वाद्यों के शब्द गोपुर-द्वार पर सुनायी दिये। आगे चलने पर उसे हाट-मार्ग दिखायी पड़ा, जहाँ अनेक पण्य योग्य वस्तुओं को फैलाए हुए क्रय-विक्रय में प्रवृत्त व्यापारियों द्वारा कोलाहल हो रहा था।[369] उस हाट मार्ग में प्रविष्ट होने पर कुवलयचन्द्र को अनेक देशों की भाषाओं एवं लक्षणों से युक्त देशी वणिक दिखायी पड़े।[370]

नाप-तौल एवं मुद्राः–जैन कथा साहित्य में विभिन्न प्रकार की नाप-तौल की प्रणालियों एवं मुद्राओं का उल्लेख मिलता है। संक्षेप में, ये इस प्रकार हैं।

अंजलि–अंजलि नाम का परिमाण पाणिनि के समय में भी प्रचलित था।[371] चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अंजलि होती थी। कौटिल्य ने चार अंजलि के बराबर एक प्रस्थ माना है।[372] वासुदेव शरण अग्रवाल ने ढाई छटाँक के बराबर एक अंजलि का नाप माना है।[373]

कर्ष–यह एक प्राचीन नाप था। चरक ने इसे लगभग तोले के बराबर माना है। मनुस्मृति में एक कर्ष (80 रत्ती) के ताँबें के कार्षापण को पण कहा गया है।[374] पूर्वमध्य कालीन अभिलेखों में भी कर्ष के उल्लेख मिलते हैं।[375]

कुडत्तं, कूटतौल, कूटमान एवं कूट टंक-कुवलयमाला[376] में इन शब्दों का प्रयोग गलत दस्तावेज तैयार करने, कम तौलने एवं खोटे सिक्के चलाने के अर्थ में हुआ है। व्यापरिक मण्डियों में इस प्रकार के अवैध कार्य भी होते थे। कोटि, शत कोटि-सिक्के का नाम न कहकर केवल संख्या द्वारा ही वस्तुएँ खरीदी-बेचीं जाती थीं।[377]

गोणि–चरक ने गोणि को खारी का पर्याय मानते हुए उसकी तौल भी 2 मन 22 सेर 32 तोले बतलायी है।[378] गोणी को द्रोणी एवं वाह भी कहा गया है।[379]

पलय–याज्ञवल्क्य–स्मृति में एकपलय को चार या पाँच सुवर्ण के बराबर माना गया है। उद्योतन ने मांस और मासा इन शब्दों का प्रयोग किया है। सम्भवतः एक सिक्का एवं दूसरा तौल के लिए प्रचलित रहा हो।[381] मनुस्मृति[382] एव अर्थशास्त्र[383] के अनुसार ताबें का मासा तौल में पांच रत्ती और चाँदी का दो रत्ती का होता था। मम्ण-प्रयमाण, मासा, रत्ती, रुपया, बराटिका, सुवर्ण, एगारसगुणा आदि नाप-तौल-मुद्रा प्रचलित थे।

श्रेष्ठि

कुवलयमाला में वर्णित वाणिज्य एवं व्यापार के प्रसंगो से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में श्रेष्ठियों का महत्वपूर्ण स्थान था। व्यापारियों के संगठन का श्रेष्ठि प्रधान होता था। अतः श्रेष्ठियों को नगर श्रेष्ठि आदि नाम से भी जाना जाता था। कुवलयमाला में श्रेष्ठि पद को सूचित करने वाले निम्नोक्त शब्द मिलते हैं।

1. भद्रश्रोष्ठ[384], 2. महानगर श्रेष्ठि[385], 3. महाधन श्रष्ठि[386] 4. जुण्णसेट्टि।

व्यापार के लिये समुद्री तथा स्थल यात्राऍं प्राचीन भारतीय समाज के लोगों की यह सामान्य धारणा हो गयी थी कि समुद्र-यात्रा के द्वारा अधिक धन अर्जित किया जा सकता है। मृच्छकटिक में विदूषक की इस भावना का–'भवति किं युष्माकं यानपात्राणि वहन्ति'?[388] तथा बाण के इस कथन अब्भ्रमणेन श्री समाकर्षण[389] का उद्योतन ने धनोपार्जन के साधनों में सागरसन्तरण को प्रमुख स्थान देकर समर्थन किया है।[390] जैन साहित्य में उल्लिखित समुद्र यात्राओं के वर्णनों से यह स्पष्ट हो गया है कि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में भारतीय व्यापारी लम्बी समुद्री यात्रायें करने लगे थे।[391]

समुद्री व्यापार करने में धनार्जन का लोभ होता था परन्तु इसके लिए साहसी होना पड़ता था। जलमार्ग की कठिनाइयाँ बहुत थीं। सीमा तट के बन्दर गाहों पर विदेशियों का धीरे-धीरे अधिकार होता जा रहा था। अतः भारतीय व्यापारियों को चीन स्वर्णद्वीप, रत्नद्वीप आदि जाने के लिए अन्य मार्ग अपनाने पड़ते थे। कुवलय माला के अनुसार सोपारक से

रत्नद्वीप जाने के लिये समुद्री मार्ग अत्यन्त कठिन था। जो व्यापारी वहाँ से लौट कर आता था वह अन्य व्यापारियों के समक्ष मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन इस प्रकार करता था—समुद्र के पार करना दुष्कर है, रत्नद्वीप काफी दूर है, प्रचंड वायु, चपल बीजाप हवा (वीथि), चंचल तरंगे, बड़े-बड़े मच्छ, मगर एवं ग्राह, दीर्घयन्तु, गला देने वाली तिमिंगली,[392] रौद्र राक्षस, उड़ने वाले वेताल, दुर्लंध्य पर्वत, कुशलचोर, विकराल महासमुद्र के कारण रत्नद्वीप सर्वथा दुर्गम है। वहाँ का व्यापार सुन्दर है। जिसको अपना जीवन प्रिय न हो[393] वह वहाँ से व्यापार करे।

किन्तु जलमार्ग की उपर्युक्त कठिनाइयाँ भारत के उत्साही व्यापारियों के लिये उनके उद्देश्य के प्रति मनोबल को कम नहीं करती थी। अतः पुरुष वहीं है जो हृदय में ठान ले कि वह उसे पूरा करके ही छोड़ेगा।[394] भरहुत की कला में एक स्थान पर एक जहाज का चित्रण हुआ है जिसमें एक तिमिंगल ने धावा कर दिया और जहाज से गिरे हुए कुछ यात्रियों को निगल रहा था। बेनीमाधव बरुआ के अनुसार भगवान बुद्ध की कृपा से तिमिंगल के मुख से वसुगुप्त की रक्षा का यह चित्रण है।[395] 10वीं श. में भी तिमिंगल का भय बना हुआ था।[396]

जल यात्रा का प्रारम्भ बड़े मांगलिक ढंग से होता था।[397] प्रस्थान की तिथि निश्चित हो जाने पर सार्थवाह नहा धोकर सुंदरवस्त्र एवं आभूषण से सुसज्जित होकर, अपने परिवार जनों के साथ जहाज पर बैठते थे। उनके चढ़ते ही तूर बजाया जाता, शंख फूके जाते, मांगलिक कार्यों को किया जाता, ब्राह्मण आशीर्वाद देते, गुरुजन प्रसन्नता व्यक्त करते, पत्नियाँ दुःखी हो जाती, मित्रजन हर्ष-विषाद युक्त होते, सज्जन पुरुष मनोरथ, कामना की पूर्ति के लिये भगवान से प्रार्थना करते और इस प्रकार मंगलस्तुति एवं जय-जय की ध्वनि के साथ ही जहाज, प्रस्थान करता। उद्योतन के पूर्व ज्ञाता-धर्म कथा तथा समराइच्च कहा के जलयात्रा-सम्बन्धी प्रसंगों में भी किसी स्थान पर इतनी सूक्ष्मता नहीं है।[398] पीने के लिये जल एवं ईधन की व्यवस्था सभी वर्णनों में समान है। दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी तक जल यात्रा के समय इन सभी वस्तुओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी।[399]

समुद्रपार देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों के संदर्भ में धनदेव की कथा से ज्ञात होता है कि समुद्रपार के देशों में भारतीय व्यापारी पहुँच कर निम्नोक्त कार्य करते थे:—जहाज किनारे लगते ही सभी व्यापारी उतरते, विक्री के सामानों के उतारते, भेंट लेकर वहाँ के राजा से मिलते, उसे प्रसन्न कर वहाँ से व्यापार करने की अनुमति प्राप्त करते, निर्धारित शुल्क का भुगतान करते, हाँथ के संकेत से मूल्य तय करते और माल बेचते, अपने देश को ले जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं की क्रय करते, जो उस देश में लाभ प्राप्त हुआ हो उसके अनुसार वहाँ की धार्मिक संस्थाओं को दान देकर अपने देश-वापसी का प्रस्थान करते थे। व्यापारी दल के नेता सार्थवाह द्वारा राजा को भेंट प्रस्तुत करते हुये दिखाया गया है।[401]

कुवलयमाला[402] में समुद्रयात्रा के वर्णन के प्रसंगों में अधोलिखित जलमार्गों की जानकारी प्राप्त होती है:—

1. सोप्पारक से चीन, महाचीन जानेवाला मार्ग, 2. सोप्पारक से महिलाराज्य (तिब्बत) जानेवाला मार्ग,[403] 3. सोपारक से रत्नद्वीप[404], 4. रत्नद्वीप से तारद्वीप[405], 5. तार द्वीप से समुद्र तट[406], 6. कोशल से लंकापुरी[407], 7. पाटलिपुत्र से रत्नद्वीप के रास्ते में कुडंगद्वीप[408] 8. सुवर्णद्वीप से लौटने के रास्ते में कुडंगद्वीप[409] 9. लंकापुरी की ओर जाते हुये रास्ते में कुडंगद्वीप[410] 10. जयश्री नगरी से यवनद्वीप[411] 11. यवनद्वीयप से पाँच दिन-रात का रास्ता वाला चन्द्रद्वीप का मार्ग[412] 12. समुद्र तट से रोहण द्वीप[413] 13. सोपारक से बब्बर कुल[414] 14. सोपारक से स्वर्णद्वीप[415]

स्थल-मार्ग में सार्थ द्वारा यात्रा करना भी निरापद नहीं था। सार्थवाह की सजगता एवं सुरक्षा के बावजुद रास्ते की जंगली जातियों एवं चोरों का भय बना रहता था। दक्षिणापथ के यात्रियों के लिए विन्ध्याटवी से पार होना सबसे अधिक कठिन था। वहाँ को भिल्ल जातियों के आक्रमण एवं जंगली क्षेत्र होने से यात्रियों को सदैव भय बना रहता था। समराइच्च कहा और कुवलयमाला में शबर आकमणों का वर्णन है।[416] उद्योतन ने वैश्रणमदत्त सार्थवाह के

सार्थ पर शबरों के आक्रमण का वर्णन किया है। शबरों ने जब यात्रियों को मार-डाट कर उनकी बहुमूल्य वस्तुएँ छीन ली तथा सार्थ के तितर-बितर होने से सार्थवाह की लड़की कुवलयचन्द्र की शरण में आ गई तो कुवलयचन्द्र भी शबर सेनापति से युद्ध करने लगा। अन्त में जब वे एक दूसरे से पराजित न हुए तो शबर सेनापति ने कुमार से संधि कर ली। बाद में जब दोनों में परिचय हुआ तो शबर सेनापति ने सार्थ का सब धन वापस कर दिया।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. जामखेदकर, ए. पी. वासुदेव हिंडी, ए कल्चरल स्टडी, पृ. 53।
2. वा. हिं. (प्र. खं.), 156–163।
3. तत्रैव—101।
4. समराइच्चकहा पृ. 349।
5. *कुवलयमाला,* 40.24, 26 सक-जवण-सबर-बब्बर-काय-मुरुंडोड्ड-गोडं-कप्पणिया।

अखाग-हूण-रोमस-पारस-खस-खसिया चेय ॥

डोविलय-लउस-बोक्कस भिल्ल-पुलिदंध-कोत्थ-भररुया।

कोंचा य दीण-चंचुय मालव-दविला-कुडक्खा य किक्कय-किराय-हयमुह गयमुह-रवर-तुरय मेढगमुहा य।

हयकण्णा गयकण्णा अण्णे य अणारिया बहवे ॥

6. वा. हिं. प्र. खं. पृ., 209।
7. तत्रैव, पृ. 209।
8. वा. हि. प्र. खं., 231 वा. हिं. प्र. खं., 15, 271।
9. वा. हिं. प्र. खं., 15।
9. वा. हिं. प्र. खं., 75, 114, 172।
10. तत्रैव, 22।
11. एक ब्राह्मण जिसका नाम कासव था वह ब्राह्मणों के लिये निर्धारित छः कत्तव्यों का पालन करते हुये खेतो से मकाई एकत्रित कर अपना जीविकोपार्जन करता था (वा. हिं. प्र. खं.), 284।
12. एम डी एस, 1. 88।
13. वा. हि. (प्र. खं.), 30।
14. तत्रैव, 14।
15. तत्रैव, 184-185।
17. वा. हिं. (द्वि. खं.), 11. 65 ए बी।
17. तत्रैव, 11, 226।
18. कुवलयमाला, 16, 20, सत्थिकारेंति चउवयण-समा महाबंभणा।

19. कुवलयमाला, 16, 21:-पविसंति सुक्क सरिसा महापुरोहिया ।

20. कुवलयमाला, 48. 20, बाहमणानां निवेद्यात्मा ततः शुद्धो भविष्यति ।

21. कुवलयमाला, 112. 21 पावकम्महं चिलायहं दुट्ठुघुट्ठु-सइसउं बंभणु मारियव्वउ ।

22. कुवलयमाला, 118. 3:- सोहेइ वच्च-घरए उज्झइ उच्चिट्ठमल्लय-णिहाए ।
लोएण उवहसिज्जइ किरएसो बंभणो आसि ॥

23. कुवलयमाला, 258. 14:- सामल-वक्षत्थल-घोलमाण-सिय-वम्ह-सुत्त-सोहिल्लो ।
पवणंदोलिर-सोहिय-कंठद्ध-णिबद्ध-वसणिल्लो ॥

24. कुवलयमाला, 171.5:- अणेय-वेय-समय-सत्थ पारयस्स दुयाइणो ।

25. *समराइच्च कहा,* पृ. 348 ।

26. वासुदेव हिडी (प्र. खं.), 119 ।

27. तत्रैव, 162

28. तत्रैव, 170

29. तत्रैव, 238-4

30. बुद्ध प्रकाश-'ठाकुर' : सेन्ट्रल एशियाटिक जर्नल, भाग 3 (1957) पृ. 220-237.

31. *एपिग्राफिया इंडिका,* भाग 32, पृष्ठ 318

32. *एपिग्राफिया इंडिका,* भाग 14. पृ. 274 ।

33. वी. सी. लाहा-*सम—क्षत्रिय ट्राइब्स ऑव एन्शियन्ट इण्डिया,* पृ. 120 ।

34. बुद्ध प्रकाश पूर्वोद्धरित पृष्ठ 237 ।

35. कुवलयमाला, 134.16 भो भो सुरासुर-णव-गंधव्वा, अज्जपभिइं भगवओ वंसो इक्खागो,

36. वासुदेव हिण्डी, 197 ।

37. तत्रैव, 210, 368 ।

38. तत्रैव, 233, 296 ।

39. जैन, जे. सी., पृ. 139 ।

40. वासुदेव हिण्डी, 145 ।

41. तत्रैव, 139, 154 ।

42. तत्रैव, 126, 127 ।

43. तत्रैव, 59 ।

44. तत्रैव, 86, 283 ।

45. वासुदेव हिण्डी, 133 ।

46. जामखेदकर, ए. पी., पूर्वोद्धरित पृष्ठ 53 ।
47. वासुदेव हिण्डी, पृ. 86 ।
48. जामखेदकर, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 38
49. *भगवद् गीता,* अ. 18 श्लोक 41 ।
50. मनुस्मृति 1. 91
51. मनुस्मृति 11. 32
52. वासुदेव हिण्डी, 162 ।
53. तत्रैव, 46 ।
54. तत्रैव, 321 ।
55. तत्रैव, 120, 198 ।
56. तत्रैव, 51, 182 ।
57. तत्रैव, वासुदेव हिण्डी, 154 ।
58. तत्रैव, 132 ।
59. तत्रैव, 141 ।
60. तत्रैव, 222 ।
61. तत्रैव, 9 ।
62. तत्रैव, 219 ।
63. मेहता, 245 ।
64. वासुदेव हिण्डी, 155-56 ।
65. तत्रैव, ।
66. तत्रैव, 100 ।
67. तत्रैव, 39 ।
68. वासुदेव हिण्डी, 98 ।
69. तत्रैव, 156 ।
70. तत्रैव, 98 ।
71. एम. डी. एस, X, 51 ।
72. वासुदेव हिण्डी, 156 ।
73. तत्रैव, 155-156 ।
74. तत्रैव, ।

75. तत्रैव, 100 ।

76. तत्रैव, 295 ।

77. तत्रैव, 295 ।

78. वासुदेव हिण्डी, II.116–17अ 178ब ।

79. *समराइच्चकहा,* पृष्ठ 348 ।

80. पार्श्वोद्धरित, पृ. 905 ।

81. तत्रैव, पृ. 348 ।

82. कालसेणो नाम पल्लीवई, समराइच्च, पृ. 504 ।

83. तत्रैव, 529-30

84. तत्रैव, 523 ।

85. ऊसइन्नो नाम वत्थसोहगो, समराइच्च, पृ. 51 ।

86. समराइच्च, पृ. 450-452 ।

87. वरांगचरित, 21-11. ।

88. पद्मपुराण, पर्व 3, श्लोक 255-58. ।

89. महापुराण, पर्व 16, श्लोक 343-46. ।

90. कुवलयमाला, 65.2 ।

91. सं. कु., पृ. 21

92. इन्ट्रोडक्शन, पृ. 138, नोट्स ।

93. श.-रा.ए., पृ. 435.

94. दूसरे प्रकार से, तथापि, शूद्रों की स्थिति में (700-1200 शताब्दी) काफी सुधार हुआ ।-एस. आर टी ए पृ. 435-36

95. तत्रैव, पृ. 435-36 ।

96. कुवलयमाला, 65.25 देसिय-वाणिय मेलिए गन्तूण उवविट्ठो । दिण्णं च गंध-मल्लं-तंबोलाइयं,

97. *समराइच्चकहा,* पृ. 348 एवं 905. ।

98. कुवलयमाला, 40.26

99. कुवलयमाला, 40.29 चंडाल-भिल्ल-डोंबा सोयरिया चेय मच्छ-वंधा य, ।

100. कुवलयमाला, 2,1, 28.1, 117.6, 125.30, 169.35, 183,11, 258.27, आदि

101. कुवलयमाला, 40.24, ।

102. प्राचीन भारतीय स्थलकोश प्रयाग पृ. 242

103. वृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, 1.3263 आदि

105. ज.-जै.भा.स., पृ. 486.

106. ज.-जै.भा.स., पृ. 458.

107. जामखेडकर, पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 120

108. कुवलयमाला, 40.25.

109. बृहत्कल्पभाष्य (गा. 229.93, 4123.26).

110. फ्लीट, भाग 3, पृ. 8.

111. जामखेडकर-पूर्वोद्धरित, पृष्ठ 132 ।

112. कुवलयमाला, 38.28 ।

113. निशीथचूर्णि 4-1816 की चुर्णि ।

114. बृहत्कथाकोश, 17.29 ।

115. कुवलयमाला, 81.10 ।

116. कुवलयमाला, 140.2. ।

117. कुवलयमाला, 40.29 ।

118. 'अन्तकृद्दशा,' 4, पृ. 22 ।

119. मनुस्मृति, 10-50

120. कुवलयमाला, 38.29. ।

121. कुवलयमाला, 40.25. ।

122. सुत्त निपात, 1.7,3,9. ।

123. अंगुत्तर निकाय, 2.4 पृ. 89 ।

124. आचारांग-निर्युक्ति, 20.27. ।

125. व्यवहारभाष्य, 3.94 ।

126. कथाकोश प्रकरण, पृ. 115 ।

127. अलबरुनी इण्डिया 1, पृ. 101. ।

128. श.-रा.ए., पृ. 431. ।

129. कुवलयमाला, 48.27 ।

130. तत्रैव, 48.27 ।

131. तत्रैव, 77.8 ।

132. तत्रैव, 46.9 ।

133. तत्रैव, 40. 25 ।

134. तत्रैव, 7.27 ।

135. तत्रैव, 40.24 ।

136. तत्रैव, 153. ।

137. तत्रैव, 77.8 ।

138. भ.-वै. शै. भ., पृ. 42-43 ।

139. कुवलयमाला, 77.8 जाव दिट्ठं एक्कम्मि पएसे कं पि गोट्ठं ।

तत्थ समस्सइया एक्कीए घरं आहोरीए ॥

140. काणिककिरात का यस्थमालाकार कुटुम्बिन: एते चान्ये च बहव: शूद्रा: भिन्ना: स्वकर्मभि: ॥

—वेदव्यास- स्मृति, 1.10 ।

141. उ.-पू. भा. इ., पृ. 321 ।

142. कुवलयमाला, 7.27. ।

143. ज.- जै. पा. स., पृ. 229 ।

144. तत्रैव, पृ. 222. ।

145. कुवलयमाला, 152. 26 ।

146. शा.-आ. भा., पृ. 157 ।

147. कुवलयमाला, 40.25. ।

148. कुवलयमाला, 151.18. ।

149. अर्थशास्त्र, 5.3,144. ।

150. महाभारत, कर्णपर्व, 44 श्लोक 32-33,

बौधायनधर्मसूत्र, 1,2.13,15. ।

151. कुवलयमाला, 59.4 ।

152. कुवलयमाला, 153. 4 ।

153. कुवलयमाला, 282.11 ।

154. एस. आर टी ए पी पीद्व 108.119 ।

155. बुद्ध प्रकाश, *एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रुपरेखा,* लखनऊ, 1971 पृ. 144. ।

156. उर्पेन्द्र ठाकुर- द *हूणाज इन इन्डिया,* 1967. ।

157. बुद्ध प्रकाश, त्रिवेणिका-कालिदास और हूण, पृ. 42. ।

158. तत्रैव, पृ. 70-71 ।

159. वासुदेव हिण्डी, 161-62 ।

160. तत्रैव, 132. ।

161. तत्रैव, 156 ।

162. तत्रैव, 19 ।

163. आठ प्रकार है| (1) ब्राहम (2) दैव (3) आर्ष (4) प्राजापत्य (5) आसुर (6) गांधर्व (7) राक्षस (8) पैशाच, मनुस्मृति 111, 29; याज्ञवल्क्य स्मृति 111, 58-61 (मनुस्मृति, 111, 20-44)

164. वासुदेव हिण्डी, 73 ।

165. तत्रैव, 73 ।

166. तत्रैव, 64-65 ।

167. तत्रैव, 307-08 ।

168. तत्रैव, 64-65 ।

169. तत्रैव, 40, 80, 81, 78 ।

170. कृष्ण ने लक्खना, विनयवती और जंबवती का अपहरण किया । वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.), 78, 79 ।

171. वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.) 78 ।

172. तत्रैव, 42 ।

173. आगदत्त एक सारथी था । तत्रैव, 42 ।

174. तत्रैव, 212 ।

175. तत्रैव, 181 ।

176. तत्रैव, 98-100 ।

177. तत्रैव, 66 ।

178. तत्रैव, 66, 78, 98-100, 116, 185, 264-65, 327-28, 364-65 ।

179. तत्रैव, 314 ।

180. तत्रैव, 121, 126 ।

181. समराइच्च कहा, पृ. 895 ।

182. समराइच्च, पृ.895, द्वितीय और सप्तमभव ।

183. तत्रैव, पृ. 235

184. समराइच्च, पृ. 619 ।

185. नाहं मिच्छादिट्ठिस्स धूयं देयिसासूणणंदाओ पउट्ठाओ भिक्खूणभत्तिं णव रे हन्ति- द. हा., पृ. 93 ।

186. समराइच्च, पृ. 719 ।

187. विव्भमवई गयन्तमई, समराइच्च, पृ. 900 ।

188. तत्रैव, पृ. 583 ।

189. उप. गा. 94, पृ. 65 ।

190. उप. गा. 94. पृ. 65 ।

191. कुवलयमाला, 170, 21, 25. ।

192. तत्रैव, 170.27 ।

193. कुवलयमाला, 171.1, 2. ।

194. तत्रैव, 171.1, 15 ।

195. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ. 114,

196. जैन साहित्य में आगदत्त की कहानी बहुत लोकप्रिय है और इसका अनुवाद करके जैकोवी ने हिन्दू कहानियों के साथ जोड़ दिया । इसका पुन| अनुवाद अंगरेजी में जे. जे. मेयेर ने किया ।

197. वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.), 49 ।

198. तत्रैव, 49-52. ।

199. तत्रैव, 34. ।

200. तत्रैव, 226. ।

201. तत्रैव, 227. ।

202. तत्रैव, 97. ।

203. वासुदेव हिण्डी (द्वितीय खं.), 11.121 बी. ।

204. तत्रैव, (प्र. खं.), 23. ।

205. तत्रैव, 109. ।

206. तत्रैव, 78-79 ।

207. तत्रैव, 19. ।

208. तत्रैव, 7. ।

209. तत्रैव, 70. ।

210. तत्रैव, 66, 83, 97. ।

211. वासुदेव हिण्डी (द्वि. खं.), 11, 52बी ।

212. वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.), 277, सादृश्य दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति 'कामसूत्र' और 'वात्स्यायन' में उपलब्ध है ।

213. तत्रैव, (प्र. खं.), 128 ।

214. तत्रैव, 101. ।

215. वासुदेव हिण्डी (द्वि. खं.) 11. 63ब ।

216. तत्रैव, (प्र. खं.), 1. 10ब. ।

217. तत्रैव, (प्र. खं.), 9-54. ।

218. तत्रैव, 14, 31. ।

219. तत्रैव, 233. ।

220. तत्रैव, 103. ।

221. तत्रैव, (द्वि. खं.) 11.182अ. ।

222. समराइच्च कहा समराइच्चकहा, पृ. 87-88 ।

223. तत्रैव, पृ. 922 ।

224. साम्राज्ञी श्वसुरेभव साम्राज्ञी अधिदेवेषु-ऋग् 10, 85, 46 ।

225. समराइच्च कहा, पृ. 814 ।

226. समराइच्च कहा, पृ. 241. ।

227. तत्रैव, पृ. 623 ।

228. आचार्य श्रेष्ठो गुरुणां मातेत्येके । ———-गौतम द्य. सू. 2/56 ।

229. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1, 10, 28, 9 ।

230. बौधापनधर्मसूत्र 2.2,48. पतितामपि तु मातरं विभयादभिभाषमाण| ।

231. महाभारत, शान्तिपर्व, 267, 31, 343, 18 ।

232. समराइच्च कहा, पृ. 339-340 ।

233. ऋग्वेद 1,167,4 ।

234. समराइच्च कहा, पृ. 339-340 ।

235. तत्रैव, पृ. 96 ।

236. समराइच्च कहा, पृ. 97 ।

237. वासुदेव हिण्डी (प्र. खं.), 11 ।

238. तत्रैव, 110 ।

239. तत्रैव, 141 ।

240. तत्रैव, 81 ।

241. तत्रैव, 198 ।

242. वासुदेव हिण्डी (द्वि. खं.) 11, 160 ब ।

243. तत्रैव, 11, 178अ।

244. तत्रैव, 1.2

245. वासुदेव हिण्डी (द्वि. खं.), 1. 18ब।

246. डिक्शनरी आव सोसिओलाजि, फिलोसाफिकल लायब्रेरी न्यूआर्क सिटी, पृ. 327।

247. 'जैन संस्कृति और परिवार-व्यवस्था' नामक लेख, 'श्रमण', 1965।

248. कुवलयमाला, 46.15, 27।

249. तत्रैव, 54.18, 30।

250. कुवलयमाला, 260.25, 267.22।

251. तत्रैव, 13, 25।

252. तत्रैव, 260. 19।

253. तत्रैव, 54.26, 27।

254. तत्रैव, 65, 17।

255. तत्रैव, 191, 192।

256. तत्रैव, 50, 28।

257. तत्रैव, 162.9, ।

258. तत्रैव, 162.9, 10।

259. तत्रैव, 264. 18।

260. तत्रैव, 266. 2. ।

261. तत्रैव, 262द्व 18।

262. तत्रैव, 54.20, 24।

263. कुवलयमाला, 65.8।

264. तत्रैव, 82. 32।

265. तत्रैव, 82.33।

266. तत्रैव, 96.28।

267. तत्रैव, 176.3।

268. तत्रैव, 82.32।

269. तत्रैव, 65.8।

270. तत्रैव, 82.32।

271. कुवलयमाला, 17.27।

272. तत्रैव, 17.27 ।

273. तत्रैव, 17.28 ।

274. अभिज्ञान् शकुंतला, अंक, 7. ।

275. कुवलयमाला, 17.29. ।

276. तत्रैव, 18.30 ।

277. औपपातिक, 40, पृ. 185 ।

278. कुवलयमाला, 21,2,162.9. ।

279. तत्रैव, 21, 7 ।

280. ज्ञातृधर्मकथा, पृ. 21 ।

281. ज.-जै. आ. स., पृ. 243 ।

282. श.-रा. ए., पृ. 314 ।

283. कुवलयमाला, 199.33 ।

284. तत्रैव, 200.1,6 ।

285. कुवलयमाला, 2000, 8, 12 ।

286. तत्रैव, 148.11, 12. ।

287. आवश्यक चूर्णि, पृ. 213. ।

288. पुसालकर-भास| ए स्टडी, अध्याय 19, पृ., 440 ।

289. हाप किन्स- *एपिक माइथोलाजी*, पृ. 125 ।

290. ज.-जै. आ. स., पृ. 431 ।

291. उत्तराध्ययन टीका 8, पृ. 5136.

292. वृहतकल्पभाष्य, पृ. 5153 ।

293. शारदातनय का भाव प्रकाश, पृ. 137.

294. अग्रवाल, *प्राचीन भारतीय लोक धर्म*, अहमदाबाद, 1964 ।

295. कुवलयमाला, 59.33., 60.3 ।

296. पुरुषार्थचिन्तामणि, पृ. 59; गरुड़ पुराण, अध्याय 134; देवीपुराण अ. 22; हर्षचरित अ. 8; यशस्तिलकचम्पू, पाश्र्वनाथचरित अ. 4 ।

297. कुवलयमाला, 148.11. ।

298. समराइच्च कहा, पृ. 647 ।

299. कुवलयमाला, 103.32 ।

300. जातकमाला (13वी उनमारयंती की कथा)—आर्यसूर्य, मुद्राराक्षस अंक 3, मालती माधव अंक 7 एवं कामसूत्र 5-5, 11. ।

301. कुवलयमाला, 103. 15 ।

302. तत्रैव, 103. 19 ।

303. यशस्तितिलकचप्पू, 307, पृ.2.1 ।

304. समराइच्च कहा पृ. 53, 496 ।

305. कुवलयमाला, 77.16,18 ।

306. समराइच्च कहा पृ. 237 ।

307. कुवलयमला, 55.7. ।

308. तत्रैव,, 224.29 एवं 48. 10 ।

309. तत्रैव, 187.4 तथा 240.16 ।

310. तत्रैव, 13.22 ।

311. तत्रैव, 49.5 ।

312. तत्रैव, 187.5 ।

313. तत्रैव, 82.20 ।

314. बौधायन धर्मसूत्र, 1.13 ।

315. समराइच्च कहा पृ. 132 ।

316. जे. सी. जैन *लाइफ इन एन्सियेन्ट इण्डिया,* पृ. 128 ।

317. तत्रैव, पृ. 74 ।

318. तत्रैव, पृ. 438 ।

319. समराइच्च कहा, पृ. 539 ।

320. तत्रैव, पृ. 246 ।

321. कुवलयमाला, 57.13-15 ।

322. तत्रैव, 57.16.17 ।

323. तत्रैव, 57.33 ।

324. तत्रैव, 231.28 ।

325. उद्धत-श. रा. ए., पृ. 493. ।

326. कुवलयमाला 57-24,26. ।

327. समराइच्च कहा, पृ. 240 ।

328. तत्रैव, पृ. 240, चतुर्थभव की कथा।

329. तत्रैव, पंचम भव की सम्पूर्ण कथा, पृ. 398।

330. तत्रैव, पृ. 552-556।

331. तत्रैव, पृ. 509।

332. द. हा. पृ. 118।

333. समराइच्च कहा, पृ. 172।

334. तत्रैव, पृ. 39।

335. प्राचीन गुर्जरकाव्य-संग्रह, पृ. 95; पृथ्वीचन्द्र चरित (सं. 1161).

336. कुवलयमाला, (726, 26, 28, 135.1, 152.22, 190.26, 233.22)

337. कुवलयमाला, 7.26.।

338. तत्रैव, 8.1।

339. तत्रैव, 8.1।

340. तत्रैव, 8.2।

341. तत्रैव, 8.5।

342. तत्रैव, 8.7।

343. कथाकोश–प्रकरण, पृ. 85, 165।

344. कुवलयमाला, 65.1, 20।

345. तत्रैव, 57.13.15।

346. तत्रैव, 65.10।

347. तत्रैव, 103.21।

348. तत्रैव, 65.6।

349. तत्रैव, 65, 15, 19.।

350. तत्रैव, 105.5।

351. समराइच्च कहा, पृ. 511, 655।

352. गो. इ. ला. इ. पृ. 81.89।

353. श.-रा.ए., पृ. 495।

354. *एपिग्राफिया इण्डिका,* भाग 1 पृ. 189 (फुटनोट 39)

355. विग्रहराज चतुर्थ का हर्ष अभिलेख (वि. सं. 1030) तथा राजपाल देव का नाडलाई प्रस्तर अभिलेख (वि. सं. 1202)

356. बु. ट्र. क. म., दिसम्बर 1970 ।

357. उ. कु. इ., पृ. 118 पर डा. अग्रवाल का नोट ।

358. समराइच्चकहा धरण की कथा ।

359. कुवलयमाला की भूमिका में अग्रवाल का नोट ।

360. मो.-सा., पृ. 196. ।

361. कुवलयमाला, 66.6, 9 ।

362. मो.-सा.ए. 172 ।

363. वृहत्कल्पभाष्य, 1.2506 ।

364. पेरिप्लस, पृ. 43 ।

365. गो. इ. ला. इ. पृ. 148 ।

366. कुवलयमाला, 57.29 ।

367. कुवलयमाला, 105.27 ।

368. तत्रैव, 106.4 ।

369. तत्रैव, 152.22. ।

370. तत्रैव, 152.22-23 ।

371. अष्टाध्यायी, 5.4, 102 ।

372. अर्थशास्त्र, 2.19. ।

373. अ.-पा. भा., पृ. 241 ।

374. मनुस्मृति, 8.136 ।

375. *अर्ली —चौहान डायनास्टीज,* पृ. 317 ।

376. उपासकदशा, 1, पृ. 10; निसीथचूर्णी-पीठिका, 329; चूर्णी आदि ।

377. अ.- पा. भा., पृ. 254.55 ।

378. तत्रैव, पृ. 243 ।

379. *अर्ली चौहान डाइनास्टीज,* पृ. 317 ।

380. याज्ञबल्क्य-स्मृति, 1.364 ।

381. गो.-इ. ला. इ., पृ. 205.5. ।

382. मनुस्मृति, 8.135. ।

383. अर्थशास्त्र, 2.12 ।

384. कुवलयमाला, 65.21. ।

385. तत्रैव, 73.8. ।

386. तत्रैव, 107.16, 224.18 ।

387. तत्रैव, 109.26 ।

388. मृच्छकटिक, 4.30. ।

389. हर्षचरित, 6 पृ. 189. ।

390. कु. मा., 57.25 ।

391. बाजपेयी के. डी. *भारतीय व्यापार का इतिहास ।*

392. कुवलयमाला, 66.8. ।

393. तत्रैव, 66.9. ।

394. तत्रैव, 66.25. ।

395. भरहुत, भाग 1, प्लेट 40-14 आ. 85 भाग 2, पृ. 78; सार्थवाह, पृ. 232 पर उद्धृत ।

396. तिलक मंजरी, पृ. 140 ।

397. कुवलयमाला, 67.5, 8. ।

398. *ज्ञाताधर्मकथा,* 8, पृ. 9 आदि ।

समराइच्चकहा, पृ. 240, 398, 552 आदि ।

399. तिलक मंजरी, पृ. 131.139. ।

400. कुवलयमाला, 67.12-13 ।

401. शिव राम मूर्ति, *अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम,* प्लेट 20.6, पृ. 34,35. ।

402. कुवलयमाला, 66.2. ।

403. तत्रैव, 66.3 ।

404. तत्रैव, 66.4 ।

405. तत्रैव, 69.18 ।

406. तत्रैव, 70.12, 18 ।

407. तत्रैव, 74.11 ।

408. तत्रैव, 88.29, 30 ।

409. तत्रैव, 89.4 ।

410. तत्रैव, 89.6 ।

411. तत्रैव, 106.2 ।

412. तत्रैव, 106.16 ।

413. तत्रैव, 191.13, 16 ।

414. तत्रैव, 65.33 ।

415. तत्रैव, 66.1 ।

416. तत्रैव, 138.6.9 ।

अध्याय 3

जैन कथा-साहित्य में प्रतिबिम्बित धांर्मिक जीवन

भारतीय समाज में सदैव अनेक सांस्कृतिक स्तर संग्रहीत रहे हैं और उनके अनुरुद्ध धार्मिक निष्ठ भी विविध रही है। भगवद्गीता में कहा गया है—

"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धाम योऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध: स एव स:॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षांसि राजसा:।

प्रतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा: जना:॥[1]

अर्थात् 'सबकी श्रद्धा सत्तवानुरूप होती है, मनुष्य श्रद्धामय है, जिसकी जैसी श्रद्धा है, वह वैसा ही है। सात्त्विक पुरुष देवताओं का यजन करते हैं, राजसिक यक्ष-राक्षसों का, तथा अन्यतामसिक जन भूत-प्रेतों का देव-पूजा वैदिक थी और यहाँ सात्विक कही गयी है। यक्ष-पूजा, जिसे यहाँ राजस कहा गया है, साधारण जनता में सुप्रचलित थी। यह शब्द प्राय: देवता के समान ही अर्थ रखता है, और यक्ष पूजा को अनेकांश में आर्य-धर्म का ही प्रचलित, परिवर्तित रूप मानना अयुक्त न होगा। यक्षों को अलौकिक सत्त माना जात था जो प्रय: वृक्षों में निवास करते थे और प्रसन्न होने पर नाना सांसारिक कामनाओं की पूर्ति का वर देते थे। वे अनेकत्र स्थान-देवता अथवा कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित थे। यम और शुक्र के साथ उनका विशेष संबंध था। कभी वे अनिष्टकारी भी हो सकते थे और आवेश के कारण भी बन थे। यक्षियों में अप्सराओं को सदृश्य देखा जा सकता है और कभी वे पुरुषों को प्रलोभित करती मिलती

हैं। कुछ यक्ष बाद में ब्राह्मण और बौद्ध देवताओं में रुपान्तरित पाये जाते हैं और उनका प्रभाव कुछ अंशों में प्रतिभा-विधान की परम्परा तथा यान्त्रिक पद्धतियों पर देखा जा सकता है[2]।

यक्षों की पूजा के अतिरिक्त नाना प्रेत, भूत और पशुओं की पूजा भी लोक में प्रचलित थी। इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, यक्ष, प्रेत, नाग, आदि के अनेक उत्सव मनाये जाते थे। इन अवसरों पर ब्राह्मणों और श्रमणों को, दरिद्रों और भिखारियों को दान दिये जाते थे और खिलाया जाता था। इन उत्सवों में जन-संमर्द और मद्यपान अविदित नही थे और इनकी तुलना बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित 'समज्जा' से की जा सकती है[3]।

याकोबी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में बौद्ध और जैन भिक्षुओं का उदय हुआ था।[4] इसके समर्थन में उन्होंने मुख्य युक्ति यह दी है कि बौद्ध और जैन भिक्षुओं के नियम गौतम और बौधायन के धर्म-सूत्रों में प्राप्त नियमों से सादृश्य रखते हैं। याकोबी का विश्वास था कि निवृत्ति का आदर्श ब्राह्मणों के धर्म में पहले उदित हुआ और चतुर्थ आश्रम के रूप में व्यक्त हुआ। बाद में इस आदर्श का बौद्धों और जैनों ने अनुसरण और अनुकरण किया।

'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' से हुयी है जिसका अर्थ है विजेता, अर्थात् अन्तःकरण सहित इन्द्रियों को जिसने अपन वश में कर लिया है। जैने आचार्य परम्परा में बर्धमान जिन्हे महावीर का जाता है, सबसे अन्तिम तथा चौबीसवें थे। उनसे पहले तेईस तीर्थ के हो चुकने की बात कही जाती है, जो जैन धर्म के प्रारम्भ को बहुत पीछे काल्पनिक अतीत में पहुँचा देती है। इनमें से पार्श्वनाथ को, जो वर्धमान से पहले हुए थे और जिन्हे आठवीं शताब्दी ई. पू. का एक ऐतिहासिक पुरुष माना जा सकता है। इस बात के प्रमाण है कि उनके अनुयायी वर्धमान के समकालीन थे।[5] लेकिन तब उनके उपदेश में दूषण आ चुके थे।[6] वर्धमान ने उसमें सुधार करके उसे नया बल प्रदान किया। जैन धर्म में आत्मा और पुद्गल को नित्य द्रव्य माना गया

है। इन बातों में यह ब्राह्मण-धर्म से सादृश्य रखता है और इसलिए इसे 'ब्राह्मण-धर्म' और बौद्धधर्म का औसत कहा गया है।[7]

श्रमणों में कदाचित् प्राचीनतम सम्प्रदाय निगण्ठों अथवा जैनों का था।[8] अब यह प्रायः सर्व-सम्मत है कि महावीर से पूर्व पार्श्व नाम के तीर्थकर सचमुच हुए थे। उनके पहले के तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध है, किन्तु जैनों के इस विश्वास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनकी मुनि परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा अवैदिक थी।

वर्धमान का जन्म 540 ई. पू. के लगभग विदेह की राजधानी वैशाली के निकट हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ एक क्षत्रिय-कुल के प्रमुख थे, उनकी माता त्रिशाला विदेह के राजा की बहन थी उन्होंने यशोदा से विवाह किया; किन्तु बुद्ध के विपरीत वह अपने माता-पिता की मृत्यु तक अपने घर में रहे और बाद में जब वह अट्ठाईस वर्ष के हो गए तब उन्होने आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश किया।

वासुदेव हिण्डी मुख्यरुप से एक प्रेमाख्यान है तथापि धार्मिक और दार्शनिक विचारों से व्याप्त है। कालचक्र की अवनति की अवस्था (अवसर्पिणी) में तीर्थकरों का प्रादुर्भाव हुआ।[9] यह विचारधारा भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लोक 7 और 8 के साथ साम्य रखती है।[10]

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।

धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए (मैं) युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

जैन कथाओं के रचनाकार स्वयं जैन धर्मावलम्बी थे, अत: जैन धर्म का सांगोपांग विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। दर्शन और आचार का व्यापक मानचित्र इनकी कथाओं में वर्तमान है। श्रावक के द्वादश व्रत, मुनि धर्म-व्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, भावना, सात तत्व, कर्मक्षय करने का क्रम संसार असारता, कालप्ररुपणा, कल्पवृक्षों का वर्णन, मोगभूमि और कर्मभूमि की व्यवस्था, चारों आयु के बन्ध कारण, अन्य समस्त कर्मो के आस्रव, रत्नत्रय, संयम, नरक और स्वर्ग के विस्तृत विवेचन, सिद्ध सुख का अनुपम वर्णन, व्रतों का अतीचार सहित विस्तृत विवेचन, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी की व्यवस्था का वर्णन किया है।

जैन कथाकारों ने जैन धर्म के विवेचन के साथ इन कथाओं में दान, शील, तप और सद्भावना के रूप में लोकधर्म का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। यह लोक धर्म ऐहिक और परमार्थिक दोनों दृष्टियों से सुख और शान्ति का कारण है। जिसकी आत्मा में इन गुणों का विकास हो जाता हैं वह सत्कर्मी और संस्कारी बन जाता है। यह लोक धर्म वर्गगत और जातिगत विषमताओं से रहित है, मानवमात्र का कल्याण करने वाल है। जीवन की सारी अनैतिकताएं दूर हो जाती हैं और जीवन सुखी बन जाता है। इस लोक धर्म में किसी धर्म या सम्प्रदाय का गन्ध नहीं है। इन्होंने पूर्वकृत कर्मो की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए लिख है—

सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं।

अवरोहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होइ[11] ॥

अर्थात सभी व्यक्ति पूर्वकृत कर्मो के फल के उदय को प्राप्त करते हैं। अपराध करने वाला या कार्य सिद्धि में गुणों को प्रकट करनेवाला व्यक्ति तो केवल निमित्त मात्र होता है।

समराइच्चकहा में व्यक्त उक्त दार्शनिक सिद्धान्त का साम्य आर सादृश्य भगवद गीता के निम्न उद्धृत सांख्य सिद्धानत से है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः[12]।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्म विभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

'सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं (तो भी) जिसका अन्तःकरण अहंकार से हित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'कर्ता मै हूँ' ऐसा मानता है। परंतु हे महाबा हो गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्तव को जानने वाला ज्ञान योगी सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वरत रहे हैं, ऐस समझकर उनमें आसक्त नहीं होता।

सामान्य अनुयायियों की धार्मिक-चर्या—वासुदेव हिण्डी के अनुसार ऋषम जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक थे; परन्तु भरत सामान्य अनुयायियों के धार्मिक हितों का ध्यान रखते थे। उन्होंने प्रथम ऋषि की शिक्षाओं को 'संवायपन्नति में' सहिंताबद्ध किया।[13] भरत सामान्य अनुयायियों को महान्[14] की उपाधि प्रदान करते थे। अनुयायियों को उन्होने तीन समूहों में विभक्त किया था जो अनुयायियों के व्रतों के अभ्यास के आधार पर था:—जो लघु व्रतों (अनुभ्यास) का अभ्यास करते थे (2) लघुव्रतों और गुणभ्यास का अभ्यास करते थे (3) जो लघुव्रतों, का शिक्षाभ्यास (आचरण करते थे। भरत, अनुयायियों को अपने कागिनी रत्न से चिन्हित करते थे ताकि वे एक दूसरे से अलग अभिज्ञानित किये जा सकें।[15]

उपासकों की धार्मिक चर्या—श्रावक और श्रमणों के धार्मिक आचरण में कोई आधारभूत भेद नहीं था क्योंकि दोनो के नियमों का निर्धारण 'जिन' द्वारा किया गया था। वे दोनो ही उन्हीं पाँच व्रतों का अनुपालन और अभ्यास करते थे। अन्तर तात्विक नही था बल्कि सोपानपरक

था। जैन धर्म का 'जीव' और अजीव का विवेक-ज्ञान साामान्य था। दोनों उक्त ज्ञान के प्रादर्भाव का स्रोत 'सूत्रों और आगमों' को मानते थे।[16] सामान्य अनुयायियों के धर्म को 'देसविरति'।[17] कहा जाता था। इसी कारण जैन साधु सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त करते थे। सामान्य अनुयायियों के धर्म में द्वादश सिद्धान्त अन्तर्विष्ट थे[18]:-पाँच अनुभ्यास, तीन गुणाभ्यास और चार शिक्षाभ्यास।

पाँच अनुभ्यास:—पाँच लघुव्रतों को 'गृहवास योग्य नियम'[19] कहा जात था अर्थात वे व्रत जिन का अभ्यास एक गृहस्थ करता था—'शीलाभ्यास' और 'समत्त'। लघुव्रतों का वर्णन कहानी[20] के रूप में किया गया है।

तीन गुणाभ्यास:—(1) दिग्व्रत, (2) देशव्रत, (3) अनर्थदण्ड व्रत दिग्व्रत के अन्तर्गत आवागमन पर प्रतिबन्ध है पुनः आवागमन के समय पर प्रतिबन्ध और व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा पर प्रतिबन्ध।

चार शिक्षाभ्यास:—(1) सामायिक (2) पोसघोपवास (3) भोगाप भोगपरिमाण (4) और अतिथिसंविभाग एक गृहस्थ जब धर्म परिवर्तित हो जाता था तो लघुव्रतों के साथ इनका अनुपालन करता था। मन्त्री[21] के पुत्र नंद की कहानी से यह सुस्पष्ट हो जाता है। शिक्षा व्रत ग्रहण करने के साथ एक सामान्य अनुयायी साधू जीवन व्यतीत करता था। **सामायिक व्रत** में अनुयायी मानसिक रूप से सांसारिक विचारों का त्याग दिन में एक निश्चित अवधि के लिये करता था तथा साथ-ही-साथ ध्यान और चिन्तन का भी अभ्यास करता था। **पोस धोपवास** और **भोगोप भोग परिमाण** व्रत के अवसंर पर वह अपना समय पोसहसाल में व्यतीत करता था एवं उसके आनन्द और भोगों की सामग्री पर प्रतिबन्ध था। चार शिक्षाव्रतों के अनुपालन में अनुयायी अपने भोजन-सामग्री का अंश, पवित्र, अआमन्त्रित मेहमान जैसे सन्यासी को प्रदान करता था।

पोसहव्रत के दो उदाहरण वासु देवहिण्डी से प्राप्त होते हैं; एक व्यवसायी सामिदत्त व्यवसायक कार्यो से चंदनपुर के भ्रमण पर निकला था वहाँ उसे एक गणिक अपने घर लिवा ले गई। सामिदत्त ने गणिका की किसी भी प्रकार की मेहमानी को स्वीकर नहीं किया क्योंकि वह पोसह व्रत का अभ्यास कर रहा था। उसका एक संदर्भ और प्राप्त होता है कि वह एक आसन पर पोसहसाला में बैठकर और आभूषणों को उतार कर राजाओं के लिये धर्म का प्रवचन कर रहा था। उसकी धर्म में स्थिरचित्त होने की अवस्था की परीक्षा एक यक्ष ने कबूतर औ बाज की सहायता से किया।[23]

इसी प्रकार शीलभ्यास व्रत के अनुपालन में उसकी स्थिरचित्तता की परीक्षा दो रानियों ने लिय जब वह पोस हसाला में पडिमा का अभ्यास कर रहा था। इस व्रत के साथ अठवें भोजन का उपवास संयोजित था। पोसह ब्रत के पूर्ण हो जाने पर पुनः उसने सांसारिक सुखों का आनन्द लेना प्रारम्भ कर दिया।[24]

उपवास—वासुदेवहिण्डी के अनुसार जैन धर्म के अनुयायियों को उपवास का भी अभ्यास करना अनिवार्य था। पुस्तक में संदर्भित है कि अनुयायी चतुर्थ (चौथा) षष्ट (छट्ठा) और अष्टम (अट्ठम) उपवासों का पालन करते थे।[25] चौथे प्रकार के उपवास में साठ बत्तीस और सैंतीस चौथा सम्मिलित थे। एक राजा क उल्लेख है कि वह **'आयम्बिल वद्धमान'** उपवास का अभ्यास करता था।[26] सामान्य अनुयायर्यो[26] के धर्म में एकादश पडिमा भी सम्मिलित थे। धम्मित्व ने आयम्बिल उपवास का अभ्यास छः मास तक किय जिसके परिणामस्वरूप उसका विवाह बत्तीस रूपवती कुमारियों के साथ हुआ।[28] राजकुमार भागीरथी ने अट्ठमभट्ट का अभ्यास नागदेवता को प्रसन्न करने के लिए किया[29]।

पूजाविधिः—सामान्य अनुयायी 'जिन' की उन प्रतिमाओं की पूजा करते थे जिनसे वे सम्बन्धित थे। भानु श्रेष्ठी अपने पोसहसाला में 'जिन' की प्रतिमा के समक्ष दीपक जलाकर

मंगल पाठ के साथ पूजा करता था।[30] जिन की पूजा गृह के अन्दर की जाती थी और शुभ अवसरों पर मन्दिर में भी पूजा का आयोजन होता था।[31]

वासुदेव हिण्डी (द्वितीय खण्ड) में पूजा के सम्बन्ध में विशेष विवरण प्राप्त होत है। विनयभाव के साथ मन्दिर में 'जिन' की मूर्ति के समक्ष भक्त उपस्थित होते थे। राजपरिवार के भक्त प्रतिमा के समक्ष जाने के पूर्व अपने राज चिन्हो से रहित हो थे। छाता और चमर उनके साथ नही रहता था।[32] मन्दिर में पूजा के लिए जाते समय भक्त अपने साथ एक टोकरी में फूल और धूप रखते थे एवं दूसरी टोकरी में चंदन, कपूर और कस्तूरी तथा एक स्वर्ण कलश और रत्न जड़ित एक संदूक भी साथ ले जाते थे[33]। पूजाविधि को संक्षेप में, वायु द्वारा की गयी पूजा से समझा जा सकता है। सर्वप्रथम वासुदेव ने मोर के पंखे से पूजा सामग्री की सफाई की तत्पश्चात जल का छिड़काव पूजा सामग्री के ऊपर करके चंदन का लेप मूर्ति के ऊपर लगाया। एवं पुष्पहार प्रतिमा को पहनाया, धूप लजाया एवं बलि अर्पित किया तथा जल का छिड़काव कर पुष्प बिखेर दिये[34]। अन्त में प्रार्थना और पापों का पश्चाताप किया।[35] इस बात का भी संदर्भ प्राप्त होता है कि सूर्योस्त होने पर जिन के मन्दिर में ढोल भी बजते थे।[36]

पूर्वजों की पूजा श्राद्ध के रूप में की जाती थी। श्राद्ध-कृत्य में भैंसे की बलि भी दी जाती थी और लोगों को भोज पर आमन्त्रित किया जाता था।[36] गौटों को भोजन दिया जाता था। वार्षिक उत्सवों पर ब्राहम्मणों, दरिद्रों और साधुओं को दान दिया जाता था। इस प्रकार के उत्सव स्थानीय देवताओं के सम्मान में आयोजित किये जाते थे। ब्राह्मणों को ग्रहण लगने की तिथि पर दान दिया जाता था।[38]

राजसूय यज्ञ—राजा सगर और उनकी पत्नी ने राजसूय यज्ञ किया। धम्मिल ने तर्क प्रस्तुत किया कि शासन चलाते समय सगर ने पाप अर्जित किया है इसलिए पाप नष्ट सकरने के लिए राजसूय यज्ञ करना आवश्यक हो गया।

वासुदेवहिण्डी (प्र. ख.) से जो साक्ष्य प्राप्त होता है उसके अनुसार निम्नलिखित धार्मिक कृत्य वासदेव द्वारा इस राजसूय यज्ञ में किये गए।[39]

यज्ञ में चिति (यज्ञवेदी) के निर्माण का महत्वपूर्ण स्थान था। इसके निर्माण में एक विशेष प्रकार की मिट्टी से बनी हुई ईटों का प्रयोग होता था। कीचड़ से भरे हुये गड्ढे में बहुत से मरे हुए जानवरों को फेंक दिया गया। जब मरे हुए जानवरों का माँस सड़ कर मिट्टी में सम्मिलित हो गया तब हड्डियों को निकाल कर बाहर फेंक दिया गया। इस मिट्टी से ईटों का निर्माण हुआ। सागर स्नान कर यज्ञबलि के लिये उपस्थित हुए। ईटों के ऊपर घी और मधु का छिड़काव किया गया। इसके पश्चात अंगूठे के बल पर खड़ें हुये आदमी की ऊंचाई के बराबर चिति का निर्माण हुआ। यह यज्ञ गंगा और यमुना के तट पर सम्पन्न हुआ। उन्चास दिनों तक यज्ञ में बकरे, अश्व और आदमियों की आहुति दी गयी। अश्वमेघ यज्ञ का भी संदर्भ वासुदेवहिण्डी (प्र.ख.) से प्राप्त होता है1 इस यज्ञ में राज पुरोहित विश्वभूति द्वारा बहुत से पशुओं की बलि यज्ञ में दी गयी थी।

सन्यास लेने के कारण–वासुदेवहिण्डी के अनुसार एक गृहस्थ अस्थायी रूप से गृह त्याग कर तपस्या का अभ्यास करके सन्यास ग्रहण करने की अवस्था प्राप्त कर सकता था।[40] सांसारिक इच्छाओं से तृप्त हो जाने के पश्चात, प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने पर वह तपस्वी-जीवन स्वीकार करता था।[41] परन्तु कुछ राजकुमारियों के उदहरण प्राप्त होते हैं जो युवावस्था में माता-पिता से अनुमति प्राप्त कर सन्यासिन हो जाती थी। "इक्षवाकु वंश की सभी राजकुमारियों ने गृहस्थ आश्रम को त्यागकर सन्यास ग्रहर कर लिया था।[42] परन्तु ऐसा हर पिरवार के साथ नहीं होता था।[43] कुछ उदाहरण ऐसे भी प्राप्त होते है जब तीत्थयार के प्रवचन को सुनकर मन आन्दोलित हो जाता था तथा परिणामस्वरूप सन्यास ग्रहण करने का कारण बन जाता था। कभी-कभी अचानक संसार की क्षण भंगुरता का विचार चित्त में आ जाने पर त्याग के भाव उत्पन्न हो जाते थे। कभी-कभी प्रेम या वैवाहिक-जीवन में नैराश्य या पत्नी की मृत्यु हो जाने

पर भी लोग सन्यासी हो जाते थे। कानून के चंगुल से बचने के लिए भी लोग सन्यासी हो जाते थे। एक व्यवसायी ऋण के दुष्परिणामों से बचने के लिए सन्यासी हो गया।[44] राजकुमार के सिर काटने का आदेश राजा ने दिया परन्तु बुद्धिमान मन्त्री ने सन्यास की दीक्षा दिलवाकर मृत्युदंड से उसे बचा लिया।[45]

दबाव पड़ने पर अनिच्छा से भी लोग सन्यासी हो जाते थे। वासुदेव हिण्डी में एक सन्दर्भ है कि एक भाई जो जैन सन्यासी हो गया था इस संकल्प के साथ घर लौटा कि वह अपने छोटे भाई को सन्यास की दीक्षा के लिए प्रेरित करेगा। छोटे भाई की उस समय शादी हो रही थी परन्तु परिवार के सदस्यों की इच्छा के विपरीत वह अपने बड़े भाई के स्वागत के लिये आगे बढ़ा। बड़ा भाई उसे मठ में ले गया। बड़े भाई ने असत्य भाषण दिया कि उसका छोटा भाई सन्यास की दीक्षा लेंने के लिए उसके साथ आया है। यद्यपि छोटा भाई स्तब्ध हो गया परन्तु बड़े भाई की भावनाओं को ठेस बहुँचने नहीं दिया। बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात वह पुनः घर लौट आया और गृहस्थी के कार्यों को संभाल लिया। [46] एक दूसरे उदाहरण में, एक ब्राह्मण पत्नी की मृत्यु हो जाने पर अपने युवा-पुत्र के साथ जैन सन्यासी हो गया था।[47]

जैन संघ में प्रवेश की पूर्वापेक्षायें:–जैन संघ में प्रवेश के लिए जाति, सामाजिक स्थिति या लिंग का प्रतिबन्ध नहीं था।[48] केवल एक औपचारिकता का पालन करना पड़ता था अर्थात् धर्मसंघ में प्रवेश के पूर्व सम्बन्धियों, माता-पिता[49] और राजा[50] की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था। राजा से अनुमति प्राप्त करने के दो अभिप्राय थे। पभव एक चोर था इसलिए राजा की अनुमति प्राप्त करना उसके लिए अनिवार्य था। ऐसा इसलिए था कि कहीं धर्म संघ में दूषण न आ जाय। दूसरा कारण अनुमति प्राप्त करने का यह था कि राजा के सहयोग से धर्म संघ की दिनचर्या सुचारुरुप से चलायी जा सके।

जैन संघ में प्रवेश की योग्यताएं:– वासुदेव हिण्डी के अनुसार धनमित्र नाम का श्रेष्ठी ने अपने नौ पुत्रों के साथ गृहस्थ आश्रम को त्याग दिया था। जिस समय उसने गृहस्थी को

छोड़ा उसकी पत्नी गर्भवती थी। जब उसका पुत्र बारह वर्ष का हो गया तथा उसने श्रेष्ठी के कार्यभार को सम्हाल लिया। तब उसकी पत्नी ने भी सन्यास की दीक्षा ग्रहण कर ली।[51]

दीक्षा संस्कारः–वासुदेव हिण्डी से प्राप्त संदर्भ के अनुसार जब राजकुमार मिगाद्धय ने अपना दृढ़ संकल्प सन्यास ग्रहण करने का व्यक्त किया तब मन्त्री जिसने धार्मिक प्रवचन राजकुमार के समक्ष दिया था तथा सन्यास की दीक्षा दिलवाने का उत्तरदायी था, राजकर्मचारियों को आदेश दिया कि उसके घर से सन्यास ग्रहण करने के निमित्त राजकुमार ने बालों को कटवा कर अपने शरीर के सभी आभूषणों को उत्तार दिया तो मन्त्री ने राजकुमार को एक झाडू और कटोरा दिया और कहा कि अबसे वह सिमांधर भिक्षु का शिष्य हो गया। इस घोषणा के पश्चात् उसने राजकुमार के समक्ष व्रतों का पाठ किया। जब राजकुमार मिगाद्धय के पिता को यह ज्ञात हुआ कि उसका पुत्र सन्यासी हो गया है तो उसने अपने पुत्र को समझाने का प्रयास किया कि वह राजमहल को लौट चले परन्तु राजकुमार अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। राजकुमार को एक सौ आठ स्वर्ण, चाँदी और मिट्टी के घड़ो से स्नान कराया गया। राजकुमार ने वस्त्र पहनने के पश्चात् आभूषण पहने और विमान मण्डप में बैठे गया जो चमर से सुसज्जित था। जब राजकुमार दीक्षा लेकर नगर के बाहर एक बाग में जाने लगा तो मार्ग में उसके ऊपर पुष्पों की वर्षा की गई। राजकुमार के पिता जुलूस के साथ पैदल जा रहे थे। राजा के आदेश पर वस्त्र और आभूषण वितरित किये गए।[52]

जैन साधु समूहों में रहते थे। साधुओं के सम्पूर्ण समूह को संघ कहा जाता था।[53]

गण[54]संघ के अन्तर्गत एक छोटा समूह होता था। तित्थयार के अधिकार के अन्तर्गत गण होते थे और उसे गणहर (गणधर) कहते थे। तित्थयार के मुख्य शिष्य को गणधर कहा जाता था। वासुदेव हिण्डी के कथन के अनुसार सम्मित के नेतृत्व में छत्तीस गणहर थे। सुहम्म जो पाँचवे गणहर थे उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे प्रवचन के लिए चम्पा के भ्रमण पर गये थे।[55] एक नये दीक्षित साधु को शिष्य कहा जाता था तथा वह धर्माधिकारी-वर्ग क्रम में सबसे नीचे होता था। वरिष्ठता-क्रम में दूसरे स्थान पर संगढेर होते थे।

समराइच्चकहा में सांसारिक क्लेश के कारण ही सम्पूर्ण दुःखों के मोचक श्रमणत्व को ग्रहण करने का उल्लेख है।[56]

सांसारिक क्लेशों से छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य साधन श्रमणाचरण ही माना जाता था। नारक, तिर्थक, मनुष्य और देवादि के द्वारा कुछ-न-कुछ पाप होता है और पाप से ही सभी क्लेश संग्रहीत होते हैं तथा व्यक्ति जब यह सोचता है कि किन कारणों से उसका जन्म हुआ और मृत्यु के पश्चात् उसका मगन्तव्य स्थान कहाँ है तो उसका यह चिन्तन श्रमणत्व का कारण बन जाता है।[57]

समराइच्चकहा में जैन सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार कर्मवृक्ष को समूल नष्ट करने के लिए और कर्मबन्धन से छुटकारा पाने के लिए प्रव्रज्या रूपी अस्त्र कल्याण प्राप्ति का सहायक कहा गया है।[58] शुभ परिणाम योग से प्रव्रज्या ग्रहण करना चरित्र पालन करते हुए आगमन-विधि से देह-त्याग कर दैव-लोक की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[59] साधारण और मध्यम श्रेणी के लोग तिथकरण मुहूर्त एवं शुभ तिथियों की घड़ी में प्रवचन के पश्चात् पत्नी सहित प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[60] आर्थिक रूप से सम्पन्न और राजा-महाराजा लोग प्रव्रज्या ग्रहण करते समय प्रशस्त तिथि-करण मुहूर्त में पूजा, महादान, अष्टाहिका महिमा आदि के द्वारा माता-पिता, भाई, पत्नी तथा अन्य लोगों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करते थे।[61]

दीक्षा के पूर्व भगवान महावीर के शरीर पर चन्दन आदि का विलेपन किया गया था जससे उनपर चार मास से भी अधिक समय तक स्थान-स्थान पर नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का आक्रमण होता रहा।[62] उत्तम जाति तथा गुणवान् व्यक्तियों के लिए भी महा-प्रव्रज्या ग्रहण करने का विधान था।[64] **समराइच्चकहा** की ही भाँति उत्तराध्ययन में प्रव्रज्या ग्रहण करने का कारण जीवन की क्षणभंगुरता तथा दुःखो के कारण को कहा गया है।[65] कर्म-फल सभी को भोगना पड़ता है। इसमें बन्धु-बान्धव तथा निकट सम्बन्धी आदि कोई भी सहारा नहीं दे

सकता।[66] अतः मनुष्य को सांसारिक सुखों कात्यागकर ज्ञानार्जन करना चाहिए। और संयत चित्त होकर तय करना चाहिए।[67] नायाधम्मकहा में संसार त्याग के दिन मनुष्य का निष्क्रमण संस्कार मनाये जाने का उल्लेख है। यहाँ राजा मेधकुमार के निष्क्रमण संस्कार के वर्णन में बताया गया है कि सर्वप्रथम राजा के लिए बाजार से रयोहरण (रजोहरण) और पडिग्गह (भिक्षा पात्र) क्रय किए गए जो भिक्षु के लिए आवश्यक थे। तत्पश्चात् नापित आया जिसने राजा के बाल काटे। बाल काटने के पश्चात् स्नान कराकर गौसीस एवं वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया गया और फिर उनकी दोनों माताओं के साथ पालकी में बैठाकर हाथों में रयोहरण और पडिग्गह ग्रहण कर गुणसिलय उपासनालय में जाने का उल्लेख है। वहाँ महावीर स्वामी ने अपने अनुयायी के रूप में दीक्षित किया और धर्म के विधि निषधों की शिक्षा दिया।[68] समराइच्चकहा में इसका उल्लेख प्रव्रज्या के नाम से हुआ है। नायाधम्मकहा में इसे निष्क्रमण नाम दिया गया है।

समराइच्चकहा के तृतीय भव मे प्रव्रज्या ग्रहण करने के विधानों का विवरण प्राप्त होता है। गुरू (आचार्य) द्वारा सर्वप्रथम साधु का चिन्ह रजोहरण दिया जाता था। पुनः मुण्डित कर कायोत्सर्ग को नमस्कार मंत्र द्वारा पूर्ण किया जाता था। तत्पश्चात् गुरू द्वारा दिया गया सामयिक मंत्र भक्ति के साथ ग्रहण किया जाता एवं गुरू द्वारा शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा प्राप्त कर लोग आचार्य तथा अन्य साधुओं की वंदना करते थे। पुनः वे आचार्य "मोक्ष प्ररूपण करनेवाले आगमों का परिगामी बनो" ऐसा कहकर शिष्य के मंगल की कामना करते थे। इतना करने के पश्चात् गुरूजनों की वंदना तथा आचार्य के चरणों की वंदना करने का विधान था।[69] इस उपर्युक्त विधि-विधान के साथ कुछ आगमार्थ और आवश्यक सूत्र पढ़कर कुछ दिन बीत जाने पर दीक्षा दी जाती थी।[70] प्रव्रज्या ग्रहण करने के पूर्व बालों का मुण्डन एवं रजोहरण तथा पडिग्गह (भिक्षापात्र) ग्रहण करने की बात **नायाधम्मकहा** में भी कही गयी है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। **भगवती सूत्र** में भी राजकुमार जमाली द्वारा संसार त्याग की इच्छा पर उनके माता-पिता की अनुमति से बाल मुण्डन किया गया, स्नानादि कराया गया तथा

शुभसूचक वस्त्रों एवं विभिन्न अलंकरणों से उसे अलंकृत किया गया।[71] तत्पश्चात् अपने महल अर्थात् क्षत्रिय कुण्डग्राम से लेकर चैत्य तक शुभ बेला में बहुत बड़े जुलूस के साथ वह भगवान महावीर के पास गया और वहाँ उसने अपने सभी आभरण तथा अलंकार आदि उतार दिए। अपने माता-पिता को विदा करने के पश्चात् राजकुमार जमाली पाँच मुट्ठी बालों में गुच्छे लेकर महावीर के पास गया तथा अपने पाँच सौ अनुयायियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की।[72] इसी प्रकार सिन्धु-सौबीर के राजा[73] तथा अन्य गृहस्थ लोग यथा-ऋषभदत्त[74] तथा सुदर्शन[75] आदि के भी प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख है।

जैन परम्परा में व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक अथवा अणुव्रती कहा जाता था। वे श्रद्धा एवं भक्ति के साथ अपने श्रमण गुरूजनों से निर्ग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करते थे।[76] अत: उन्हें श्रावक कहा जाता था। श्रद्धापूर्वक अपने गुरूजनों अथवा श्रमणों से निग्रन्थ प्रवचन का श्रवण करने के कारण व्रतधारी जैन गृहस्थ को श्रावक कहते थे। उन्हे श्रमणोपासक भी कहा गया है, क्योंकि वे श्रमणों की उपासना करते थे। उन्हे अणुव्रती, देश विरत, देश संयमी, देश-संयति की भी संज्ञा दी गयी है। गृहस्थी का त्याग न कर घर पर ही रहने के कारण उन्हे सागार-आगारी गृहस्थ तथा गृही आदि नामों से ही जाना जाता था। श्रमण-श्रमणी के आचार-अनुष्ठान की भाँति श्रावक-श्राविका के आचार अनुष्ठान की भी अनिवार्य अपेक्षा होती है। श्रावक धर्म की मित्ति जितनी सदाचार पर प्रतिष्ठित होती है श्रमण धर्म की नीव उतनी ही अधिक दृढ़ होती है।[77]

श्रावक कुल में उत्पन्न होने से जिन धर्म प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[78] गृहस्थ आश्रम में रहते हुए श्रावक के लिए अणुव्रतों के पालन का विधान था।[79] जैन परम्परा के अनुसार ये अणुव्रत पाँच प्रकार के माने गए हैं, यथा-स्थूल प्राणतिपात विरमण, स्थूल मृषावाद विरमण, स्थूल अदत्ता दान विरमण, स्वदार संतोष तथा इच्छा परिणाम।[80] श्रावकों के आचार का प्रतिपादन **सूत्रकृतांग**,[81] **उपासक दशांग** [82] आदि आगम ग्रन्थों में बारह व्रतों के आधार

पर किया गया है। इन बारह व्रतों में क्रमशः पाँच अणुव्रत और शेष सात शिक्षा व्रत हैं। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षा व्रतों का ही सामूहिक नाम शिक्षाव्रत है।

समराइच्चकहा में उल्लिखित है कि श्रावक अतिचार से दूर रहता हुआ निम्नलिखित उत्तम गुणों को स्वीकार करता है। उर्ध्वादिगगुणव्रत, अधोदिग्गुणव्रत, तिर्यक आदि गुणव्रत, भोगोपभोग परिमाण लक्षण गुणव्रत उपभोग और परिभोग का कारण स्वर और कर्म का त्याग, बुरे ध्यान से आचरित विरति गुणव्रत, प्रमाद से आचरित विरति गुणव्रत, पापकर्मोपदेश लक्षण विरति गुणव्रत, अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत, सावद्ययोग का परिवर्जन और निवद्ययोग का प्रतिसेवन रूप सामयिक शिक्षाव्रत और दिक्व्रत से ग्रहण किया हुआ दिशा के परमाण का—प्रतिदिन प्रमाण करण देशावकाशिक शिक्षा व्रत, आहार और शरीर के सत्कार से रहित ब्रह्मचर्य व्रत का सेवन, व्यापार रहित पौषध शिक्षाव्रत का सेवन तथा न्यायपूर्वक अर्जित एवं कल्पनीय अन्नपान आदि द्रव्यों का देश-काल-श्रद्धा-सत्कार से युक्त तथा परम भक्ति से आत्मशुद्धि के लिए साधुओं को दान एवं अतिथि विभाग शिक्षाव्रत आदि सभी उत्तम गुणों के रूप स्वीकार किए गये है[83] **उपासक दशांग** में श्रावकों के पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रतों के नाम गिनाये गए हैं।[84] यहाँ तीन गुणव्रतों और समराइच्च कहा में श्रावकाचार्य के अन्तर्गत पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ तीन गुणव्रतों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[85] इन्हें गुणव्रत इसलिए कहा गया है कि इनसे अणुव्रत रूप मूलगुणों की रक्षा तथा विकास होता है। धार्मिक क्रियाओं में ही दिन व्यतीत करना पौषधोपवास व्रत कहलाता है। इन्हें गृहस्थों को यथाशक्ति प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी को करना चाहिए जिससे उसे भूख प्यास पर विजय प्राप्त हो।

श्रावक अतिचार

समराइच्चकहा में गृहस्थ श्रावकों के लिए कुछ अतिचारों को गिनाया गया है जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक माना जाताथा। सांसारिक भ्रमण अथवा सांसारिक दुःखों के कारण भूत अतिचार इस प्रकार है[86] –बन्ध, वध, किसी अंग को काटना, जानवरों पर अधिक

बोझ लादना, किसी को भोजन पानी में बाधा डालना, सभा में किसी की निन्दा करना या किसी की गुप्त बात को प्रकट करना, अपनी पत्नी की बात दूसरों से कहना, अथवा किसी को असत्य उपदेश देना, जाली लेख लिखना, अथवा चोरी से लायी हुई वस्तु खरीदना या चोरों से किसी का धन चुरवा लेना, राज्य के नियमों को भग करना, नकली तराजू बाट रखना, न्यूनाधिक या इस प्रकार के अन्यकार्य एवं पदार्थ जो संसार में भ्रमण के निमित्ति है। श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इन सभी के पाँच-पाँच अतिचार हैं। स्थूल अहिंसा अथवा स्थूल प्राणातिपात-विरमण के पाँच-पाँच मुख्य अतिचार हैं।[87] बंध, बध छविच्छेद (किसी भी प्राणी को अंशोपांग काटना), अतिभार तथा अन्न पान निरोध, स्थूल मृषावाद विरमण के अन्तर्गत-सहसा अभ्याख्यान, रहस्य-अभ्याख्यान, स्वदार अथवा स्वपति-मंत्रभेद, मृषा उपदेश तथा कूटलेखकरण (झूठा लेख तथा लेखा-जोखा लिखना-लिखवाना), स्थूल अदत्तादान विरमण के अन्तर्गत स्तेनाहृत (चोरी का माल लेना), तस्कर प्रयोग, राज्यादि विरुद्ध कर्म, कूट तौल-कूट माप तथा तत्प्रतिरुपक व्यवहार (वस्तुओं में मिलावट करना), स्वदार संतोष के अन्तर्गत-इत्वारिक परिगृहीता-गमन (इत्वर का अर्थ अल्पकाल से लगाया गया है अर्थात अल्पकाल के लिए स्वीकार की हुयी स्त्री के काम भोगों का सेवन करन), अपरिगृहीता गमन (अपने लिए अस्वीकृत स्त्री के साथ काम भोग का सेवन), अनंग क्रीड़ा, पर विवाह करण तथा काम भोग की तीब्राभिलाषा, इच्छापरिमाण के अन्तर्गत-क्षेत्रवस्तु परिमाण अतिक्रमण हिरण्य-सुवर्ण परिमाणा अतिक्रमण, धन-धान्य परिमाण अतिक्रमण, द्विपद, चतुष्पद परिमाण अतिक्रमण तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिना तथा कुप्य परिमाण अतिक्रमण आदि अतिचार गिनाये गए हैं। इसी प्रकार गुणव्रतों में दिशा परिमाण के अतिचार-ऊर्ध्व दिशा परिमाण अतिक्रमण, अधोदिशा परिमाण अतिक्रमण, तिर्यगदिशा परिमाण अतिक्रमण, क्षेत्रबृद्धि स्मृत्यन्तर्धा (विस्मृति के कारण स्वयं गया हो अथवा कोई वस्तु प्राप्त हुई हो तो उसका भी परित्याग करना), उपभोग परिभोग परिमाण के अन्तर्गत—सचित्ताहार, सचित्त-प्रतिबद्धाहार, अपक्वाहार दुष्पक्वाहार तथा तुच्छोरुचि भक्षण, अनर्थदण्ड विरमण के अन्तर्गत कन्दर्प (विकार वद्र्धक वचन बोलना या सुनना) आदि अतिचार

गिनाये गये हैं जिसका पालन करना श्रवकों के लिए अति आवश्यक बताया गया है। समराइच्च कहा में उल्लिखित उपर्युक्त अतिचारो को जैनाचार के अनुसार पाँचों अणुव्रतों के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

श्रमणत्व-आचरण:–प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् श्रमणचर्या के लिए कुछ नियम-संयम तथा व्रत आदि आचरणों का पालन करना पड़ता था। **समराइच्च कहा** में श्रमणों के आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों का उल्लेख है। ये आधरित नियम हैं—शत्रु मित्र को समान भाव से देखना, प्रमाद से झूठा भाषण न देना, अदत्त वर्जना, मन वचन और शरीर से ब्रह्चर्यव्रत का पालन करना, वस्त्र पात्र आदि से प्रेम न रखना, रात्रि में भोजन न करना, विशुद्ध पिण्ड ग्रहण, संयोजन आदि पंचदोष रहित मित काल भोजन ग्रहण, पंच समित्व, त्रिगुप्तता, ईर्ष्या समित्यादि भावना, अनशन प्रायश्चित, विनय आद से बाह्य तथा आभ्यंतर तपविधान, भासादिक अनेक प्रतिमा, विचित्र द्रव्य आदि का ग्रहण, स्नान न करना, भूमि शयन, केशलोच, निष्प्रति-कर्म शरीरता, सर्वदागुरू निर्देश पालन, भूख प्यास आदि की सहनशक्ति, दिव्यादि उत्सर्ग विजय, लब्ध-अलब्ध वृत्तिता आदि।[88] अत: मन, वचन और शरीर से अहिंसा तथा मन-वचन और शरीर से ब्रह्चर्य का पालन करते हुए ध्यान एवं अध्ययन में रत रहने का विधान था।[89] श्रमणों के योग्य व्रतों की साधना कर्मो के क्षय रूप को निर्जरा करने वाली है। तप साधना ही निर्जरा के लिए विशेष रूप से उपयोगी मानी गयी है, जिनके मुख्यतयाँ दो भेद माने गये हैं—ब्राह्म और अभ्यन्तर। अनशन, अवमौदर्य वृति परिसंस्थान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन एवं कायक्लेश ये छ: प्रकार के बाह्य तप हैं। आभ्यंतर तप भी छ: प्रकार के बताये गये हैं—प्रायश्चित, विनय वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।[90] समराइच्च कहा की भाति भगवतीसूत्र में भी श्रमणों के लिए दो प्रकार के तप-बाह्य और आभ्यन्तर गिनोये गये हैं।[91] बाह्यतप के अन्तर्गत अनसन, अवमोदरिका (अवमोदर्य), भिक्षाचर्या, रसत्याग (दूध घी आदि का त्याग) कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग आदि नाम गिनाये गये हैं।

अत: स्पष्ट है कि श्रावकों के आचरण से भिन्न श्रमणों के लिए विहित तपश्चर्या के अन्तर्गत बाह्य और आभ्यन्तर ये दो प्रकार के तप माने गये हैं जिनके भेद-प्रभेदों से बारह प्रकार के तप कहे गये हैं। इन दो प्रकार के तपों के अलावा **दशवैकालिक सूत्र** में श्रमणों के लिए हिंसा, असत्य भाषण, चौरकर्म, संभोग, सम्पति, रात्रि भोजन, क्षितिशरीरो-जीवोत्पीड़न, वानस्पतिक जीवो-त्पीडन, जंगमजीवोत्पीड़न, वर्जित वस्तु, गृहस्थ के पात्रों मे भक्षण, पर्यंक प्रयोग, स्नान और अलंकार आदि वर्जित बताये गये हैं।[92] इसी **उत्तराध्ययन सूत्र** में भी उल्लास निषेध, संयम, परनिन्दा, निषेध है।[93] ये सभी आचरण सम्बन्धी नियम शुद्ध ज्ञान तथ मोक्ष प्राप्ति में सहायक माने जाते थे जो साधारण व्यक्तियों के अभ्यास से परे की बात समझी जाती जाती थी।

समराइच्चकहा के अनुसार विभक्त ज्ञान युक्त श्रमण मणि-मुक्ता-कंचन आदि को तृण के समान समझते थे।[94] धर्माचरण का पालन करते हुए श्रमणत्व से ही अजरता और अमरता की प्राप्ति में विश्वास किया जाता था।[95] तप-संयम[96] का पालन करते हुए ममता आदि दुख मूल का नाश, सभी जीवों में मैत्री भाव पूर्व-दृष्कृत के प्रति शुद्ध भाव से जुगुप्सा, ज्ञान, दर्शन चरित्र आदि का पालन तथा प्रमाद-वर्जना का आचरण करते हुए ही परमपद की प्राप्ति संभव मानी जाती थी।[97] एकान्त स्थान में स्वाध्याय, योग, तप, संयम आदि के द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति ही श्रमणत्व का सार माना जाता था।[98] चित्त की एकाग्रता तथा योग और संयम, में श्रमण शरीर का त्याग भी कर देते थे।[99] कभी-कभी ध्यान योग के समय दुष्टों द्वारा श्रमणों को जीवित जलकर मार डालने का भी संदर्भ प्राप्त होता है। अत: शुद्ध आचरण के परिणामस्वरूप ही नागरिकों द्वारा श्रमणों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[100] नायाध्म्म कहा में श्रमणों का जीवन तलवार की धार के समान कठिन बताया गया है।[101] **बृहकल्प भाष्य** से पता चलता है कि श्रमण व्रत भंग करने की अपेक्षा अग्नि में प्रवेश करना अधिक उचित समझते थे।[102]

समराइच्चकहा के अनुसार श्रमण विकार रहित, सकल संगत्यागी, ध्यान-योग तथा तप में लीन तथा नियम एवं संयम से विहार भी करते थे।[103] श्रमणाचार के अन्तर्गत विहार का अधिक महत्व समझा जाता था। अतः श्रमण तथा श्रमणाचार्य सभी को धर्म प्रचार कर लोगों के दुःख को दूर करने वाले जैनाचारों से अवगत कराना था। श्रमणाचार के अन्तर्गत ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि अकेले ही विहार करने का विधान था।[104] इस प्रकार की विधि से शिक्षा-दीक्षा द्वारा विहार करते हुए वर्षावास एक ही स्थान पर करते थे[105] **उपधान श्रुत** में बताया गया है कि महावीर प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात विहार (पदयात्रा) के लिए तुरंत चल पड़े।[106] निर्गंथ श्रमण वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहते तथा शेष ऋतुओं में पद यात्रा करते हुए स्थान-स्थान पर घूमते रहते थे।[107] **आचारांगसूत्र** में विहार करने के सम्बन्ध में बताय गया है कि भिक्षु या भिक्षुणी को जब ज्ञात हो जाय कि वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है एवं वर्षा के कारण विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति हो चुकी है तथा मार्गों में अंकुर आदि के कारण गमना गमन दुष्कर हो गया है, तब वह किसी निर्दोष स्थान पर वर्षावास अर्थात चातुर्मास करने के लिए टिक जाते थे परन्तु जहाँ स्वाध्याय आदि की सुविधा नही होती थी वहाँ नही टिकते थे।[108] समराइच्चकहा के अनुसार भिक्षा ग्रहण करने के लिए गुरू की आज्ञा प्राप्त करना अनिवार्य था।[109]

वासुदेव हिण्डी के अनुसार सन्यासी स्थिर रूप से एक स्थान पर नही टिकते थे ताक उनका मोह किसी स्थान विशेष और व्यक्ति के प्रति विकसित न हो सके। श्रेष्ठ सन्यासी जैसे हरिवाहन[110] आदि भी स्थान-स्थान पर भ्रमण करते थे। वे एक स्थान पर बार-बार जाते थे परन्तु अधिक समय तक उस स्थान पर टिकते नहीं थे।[111] वर्षाऋतु एक अपवाद थीं क्योंकि उस समय जीवधारी पौधों की उत्पत्ति हो जाती थी।[112] वर्षा ऋतु में या अन्यथा सन्यासी आबादी से दूर विहारों में रहना अधिक उचित समझते थे, चाहे वह नगर हो या ग्राम।[113] निवास के लिए व्यक्तिगत या सार्वजनिक बागों[114] को जहाँ स्थानीय देवता की प्रतिमा स्थापित होती थी, अधिक उपयुक्त समझा जाता था।[115] सन्यासी राजगृह नगर की गुफाओं में भी

निवास करते थे। स्थान चयन करने का मुख्य अभिप्राय यह होता था कि वह शुद्ध और सन्यासियों के रुकने के लिए उपयुक्त हो। आगम में निर्धारित नियमों के अनुसार उन्हे भिक्षा के भ्रमण पर जाना पड़ता था।[116] वासुदेव हिण्डी में दो सन्यासियों का वर्णन है जो दोपहर के समय भिक्षा ग्रहण करने दसपुर गये हुए थे। वे उस मार्ग से गये जहाँ पर हिंसा हो जाने का भय नहीं था।[117] वे भिक्षा के लिए उस स्थान पर खड़े होते थे जहाँ जीवधारी प्राणी न हो। जो लोग भिक्षा देते थे उनकी सामाजिक स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता था। सन्यासी चाण्डाल के घर की भी भिक्षा ग्रहण करते थे।[118]

श्रमणाचार के अन्तर्गत भिक्षा वृत्ति से दिन में एक बार ही भोजन करने का विधान था।[119] गोचरी के लिए प्रस्थान करने के पूर्व श्रमणों को आचार्य की अनुमति लेनी पड़ती थी।[120] कभी-कभी तो उन्हे बिना भिक्षा के ही लौटना पड़ता था।[121] अधिकतर लोग श्रद्धा और भक्ति से श्रमणों को भिक्षा प्रदान करते थे। **आचारांग** के अनुसार निर्गंथियों के लिये अलाबु, काष्ठ एवं मिट्टी के बर्तन रखना आवश्यक था; उन्हे बहुमूल्य वस्त्र की तरह बहुमूल्य पात्र भी न रखने का विधान था।[122] **आवश्यक सूत्र** में मुनि के ग्रहण करने योग्य चौदह प्रकार के पदार्थों का उल्लेख है, यथा—(1) अशन, (2) पान, (3) खादिम (4) स्वदिम (5) वस्त्र (6) पात्र (7) कम्बल (8) पाद-पोंछन (9) पीठ (10) फलक (11) शय्या, (12) संस्तारक (13) औषधि (14) भोजन।[123]

जैन श्रमणों के गुरू को श्रमणाचार्य कहा जाता था। श्रेष्ठ ज्ञान युक्त श्रमण को आचार्य के योग्य समझा जाता था। वे तप, ज्ञान, योग, संयम से युक्त भूत, भविष्य, वर्तमान के जानकार होते थे तथा शिष्यों से घिरे रहते थे।[124] वे परलोक के ज्ञान से युक्त तथा अनेक ज्ञान के इच्छुक श्रमणों से घिरे हुए आर्जव, मार्दव, मुक्ति-तप-संयम, सत्य तथा ब्रह्मचर्यादि गुणों के अनुगामी होते थे।

समराइच्चकहा में श्रमणाचार्य के लिए एक प्रकार के संयम में रत, दो प्रकार के असत् ध्यान से रहित, त्रिदण्ड-रहित, क्रोध-मान-माया और लोभ का मर्दन पंचेन्द्रियों का निग्रह, छः जीव निकायों पर दया करना, सात प्रकार के भय से मुक्त आठ प्रकार के मद स्थान से रहित, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य से युक्त, दस प्रकार के धर्मों में स्थिर चित्त, एक दशांग का ज्ञान तथा बारह प्रकार के तपाचरणों का पालन करना आवश्यक बताया गया है।[126] **व्यवहार सूत्र** में उल्लेख है कि जो कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा कर चुका है, श्रमणाचर में कुशल है, प्रवचन में प्रवीण है, यावत् दशाश्रुत स्कन्ध, कल्प अर्थात बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्रों का ज्ञाता है, उसे आचार्य अथवा उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।[127] आठ वर्ष की दीक्षा प्राप्त श्रमण यदि प्रवचन में प्रवीण एवं असंक्लिष्टमना है तथा कम-से कम स्थानांग व समवायांग सूत्रों का जानकार है तो उसे आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक आदि की पदवी प्रदान की जा सकती है।[128] आचार्य लोग मानव कल्याण के लिए अपने धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए शिष्य मंडली के साथ मास कल्प विहार[129] करते तथा चैत्यों में निवास करते थे। सर्वसाधारण से लेकर राजा-महाराजाओं तक के लोग उनका भव्य स्वागत करते थे।[129]

श्रमण परम्परा में अनेक गच्छों के समूह को कुल, अनेक कुलों के समूह को गण तथा अनेक गणों के समुदाय को संघ कहा गया है।[130] गच्छ के विभिन्न वर्गों के साधु-साध्वियों को गच्छाचार्य, कुल के नायक को कुलाचार्य तथा गणों के समुदाय को संघ कहा जाता था जिसके अध्यक्ष को संघनायक, संघाचार्य अथवा प्रधानाचार्य कहा जाता था। गणधर का मुख्य कार्य अपने गण को सूत्रार्थ देना अर्थात् शास्त्र का ज्ञान प्रदान करना तथा भ्रमण करते हुए चातुर्भास युक्त साधुओं के साथ धर्मोप देश करना था।[131]

कतिपय अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत में कुछ नये संघ और उनकी शाखाएँ-गण, गच्छ अन्वय-अस्तित्त्व में आ चुके थे। श्रवण बेल्गोला के एक लेख जानकारी प्राप्त होती हैं कि दक्षिण भारत में सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वितीय आये थे और वहाँ जैन

धर्म की प्रतिष्ठा इनसे ही हुई थी, परन्तु कदम्ब नरेशों के एक लेख से मालुम होता है कि ईसा की 4-5 वी शताब्दी में जैन संघ के वहाँ दो विशाल सम्प्रदाय-श्वेताम्बर महाश्रमण संघ और निर्गन्थ महाश्रमण संघ का अस्तित्व था। इसी इस वंश के कई लेखों में जैनों के यापनीय और कूर्चक नामक संघों का उल्लेख मिलता है जो कि एक प्रकार से दोनों से भिन्न थे।

श्राविका:-समराइच्चकहा के विवरणों से जानकारी प्राप्त होती है कि जैन धर्मावलम्बयों में पुरूषों की ही भाँति स्त्रियों में भी श्राविका या श्रावणोंपासिका (साध्वी) अणुव्रताचरण का पालन करती हुई श्रमणियों की उपासना व बंदना करती थीं।[132] ये श्राविकायें गृहस्थाश्रम में रहकर श्रावकों का सा आचरण करती थीं।[133]

श्रमणी:-जैन परस्परा में जहाँ श्राविकायें श्रावकों की भाँत आचरण करती थीं, वहीं श्रमणी भी श्रमणों का सा आचरण करती थीं। समराइच्चकहा से पता चलता है कि नारी वर्ग भी माता-पिता अथवा पति की आज्ञा लेकर जैन धर्माचरण के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करती थीं।[134] एक विद्याधर श्रमणी ने अनेक साध्वी स्त्रियों तथा पुरूषों को दीक्षित किया था।[135]

गणिनी:-श्रेष्ठ श्रमणियों को गणिनी कहा जाता था तथा उनसे धर्म कथा का श्रमण कर पुरूष एवं स्त्री वर्ग के लोग शिक्षित एवं प्रव्रजित होते थे।[136] (धर्म से ही शाश्वत शिव सौरव्य की प्राप्ति संभव है) इस प्रकार की धर्म कथा सुनकर लोगों को जैन धर्माचरण के लिए प्रोत्साहित करती थीं।[137]

जैन समूह भी गणिनी को सम्मान एवं बंदना द्वारा नमस्कार पूर्वक अणुव्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत को ग्रहण कर श्रमणत्व का आचरण करता था।138 गणधर की ही भाँति साध्वी श्रमणियों के गणों की नायिका को भी गणिनी कहा जाता था। पूरे श्रमण संघ में जो स्थन आचार्य का होता था वही स्थान निर्ग्रंथ संघ में प्रवर्तिनी का होता था। उसकी योग्यता भी आचार्य के बराबर थी अर्थात् आठ वर्ष की दीक्षा प्राप्त साध्वी आचार कुशला, प्रवचन प्रवीणा

तथा असंक्लिष्ट चिन्तवाली एवं स्थानांग, समवायांग की ज्ञात्री होने पर प्रवर्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित की जा सकती थीं।[139]

गच्छ परिग्रहः-कुवलयमाला के अनुसार जैन साधुओं में गच्छ परिग्रह वे आचार्य कहलाते थे, जिनके साथ अन्य शिष्य भी भ्रमण करते थे। शिष्यों का समुदाय (गच्छ) जिनका परिग्रह था। नये साधुओं को दीक्षित करने का अधिकार इन आचार्यो को ही था। जो साधु अकेले भ्रमण करते थे उन्हें चारण-श्रमण कहा जाता था। इन्हें किसी व्यक्ति को दीक्षा देने का अधिकार नहीं था।[140] जो साधु अकेले घूमते थे वे दीक्षित व्यक्ति की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाते होंगे। इसीलिए चारण-श्रमण दीक्षा देने के अधिकारी नहीं माने गए। वैराग्य को प्राप्त विद्याधर श्रमण धर्म में प्रव्रजित हो चारण-श्रमण बन जाते थे, जिन्हें गगनांगण में विचरण करने की विद्या सिद्ध हो जाती थी।[141] कुवलयमाला में चारण-श्रमण का दो बार उल्लेख हुआ है।[142]

देवी-देवताः-वासुदेव हिण्डी में चार प्रकार के देवताओं का वर्णन है—विमानीय, नक्षत्रिय, भवनवासी वनचर। ये सभी देवता तीर्थंकरों के समवसरन पर एकत्रित होते थे।[143] देवताओं और अद्र्ध देवताओं जैसे किन्नर, किं पुरूष, भूय, यक्ष, राक्षस और महोरग के ऊपर इन्द्र को बतलाया गया है।[144] वासुदेव हिण्डी में श्री, सरस्वती देवियों का उल्लेख है दिशाओं की देवी को दिसकुमारी कहा गया है।

कुवलयमाला कहा में कुछ ऐसे देवताओं का भी उल्लेख है जिन्हें जैन परम्परा में व्यन्तर देवता कहा जाता है। पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरूष, महोरग और गन्धर्व ये आठ देव व्यन्तर कहलाते हैं। इनकी पूजा के लिए प्रत्येक के अलग-अलग चैत्यवृक्ष थे। पिशाच का कदम्ब, यक्ष का वट, भूत का तुलसी, राक्षस का कांडक, किन्नर का अशोक, किंपुरूष का चम्पक, महोरग का नाग और गन्धर्व का तेन्दुक।[145] उद्योतन सूरि ने इन आठों देवताओं का

सरागी देव के रूप में उल्लेख किया है।[146] स्वरूप एवं कार्यो के आधार पर इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(1) सहयोगी देवता–किन्नर, किंपुरूष, गन्धर्व, नाग, नागेन्द्र, महोरग, यक्ष, लोकपाल[147] एवं विद्याधर।[148]

(2) उत्पाती देवता–भूत, पिशाच, राक्षस, वेताल,[149] महाडाकिनी[250] जोगिनी,[151] कन्या पिशाचिनी[152]

प्राचीन भारतीय साहित्य में इनके सम्बनध में प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। हिन्दू पौराणिक परम्परा में उक्त उत्पाती देवताओं को शंकर के अनुचरों के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। वे इनके अधिपति माने जाते थे। [153] कुवलयमाला में इन सब देवताओं के विभिन्न कार्यों का भी उल्लेख हुआ है।**किंपुरूष** का उल्लेख हमेशा किन्नरों के साथ ही हुआ है।[154] इनका भी पूरा शरीर मनुष्य का नहीं रहा होगा।**गन्धर्वे** का सामान्य उल्लेख कुवलयमाला में है।[155] जाति एवं विद्या को भी गन्धर्व कहा जाता था। जैन सूत्रों में गन्धर्व देश का भी उल्लेख है। उनके निवासियों की विवाह विधि को बाद में गन्धर्व-विवाह कहा जाने लगा होगा। पुराणों में इनकी उत्पत्ति एवं भेद-प्रभेदों का भी वर्णन उपलब्ध है। वे देव यानि में माने जाते थे। उनकी पूजा होती थी। इन्द्र एवं सूर्य के वे अनुचर थे।[157] गन्धर्वो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये ब्रह्मा की आज्ञा से यक्ष द्वारा उत्पन्न किये गए थे। ब्रह्मा का तेज (**गा**) पान करने (**ध्यायति**) के कारण ही इन्हें गन्धर्व कहा जाता है। हेमकूट एवं सुमेरुगिरि इनका निवास स्थान माना जाता है।[158]

नाग, नागेन्द्र, महोरगः–नाग एवं **महोरग** को बलि देकर सन्तान प्राप्ति की कामना कुवलयमाला में की गई है। यह एक प्राचीन परम्परा थी। **ज्ञाता धर्म कथा** [159] में भी बन्ध्या स्त्रियाँ इन्द्र, स्कन्द, नाग, यक्ष आदि की पूजा किया करती थीं। जैन परम्परा में राजा भगीरथ

के समय से नागबलि का प्रचार हुआ था।[160] २३ वें तीर्थकर पार्श्वनाथ से नाग कुमार का श्रद्धालु के रूप में सम्बन्ध रहा है। महाभारत [161] में नागों को कद्रु अथवा सुरा की जाति का कहा गया है। बौद्ध साहित्य में साधारण। मनुष्यों के रूप में इनका वर्णन मिलता है। बराहपुरुण मनुष्यों के रूप में इनका वर्णन मिलता है। बराहपुराण में नाग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रोचक वर्णन प्राप्त है।[162] कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी नाग जाति के सम्बन्ध में अध्ययन पुस्तुत किए हैं।[163]

वासुदेवहिण्डी के अनुसार नागों को बलि अर्पित की जाती थी। राजा भगीरथ ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए नाग को बलि अर्पित किया था। गृहस्थ नाग देवता की पूजा करते थे।[164] वासुदेव हिण्डी से जानकारी प्राप्त होती है कि राजकीय बगीचे में नदी के तट पर[165] नाग का एक मन्दिर था। वासुदेवहिण्डी में यक्ष, भूत, राक्षस आदि का भी उल्लेख है।

समराइच्चकहा में अन्य देवताओं की भाँति यक्षों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।[166] इस ग्रन्थ में सन्तान प्राप्ति की कामना से यक्ष-देव की पूजा का उल्लेख है।[167] यक्षों का इतिहास अतिप्राचीन जान पड़ता है। कुछ विद्वानों के विचार में यह कल्पना की जाती है कि यक्ष और नाग उत्तर भारत में आर्यो के आगमन के पूर्व दस्युओं द्वारा उर्वरता और वर्षा के देव के रूप में पूजे जाते थे।[168] **कुमार स्वामी** ने अपना मत प्रतिपादित करते हुए कहा है कि यक्ष अपने संरक्षक देव की महत्ता को खोकर राक्षसी प्रवृत्ति के देवों में गिने जाने लगे जो कि धार्मिक ग्रन्थों की ईश्र्या से प्रभावित जान पड़ते हैं।[169] कुवलयमाला में यक्षों का वर्णन भगवान ऋषभ देव के भक्तों के रूप में किया गया है।यक्ष राजा रत्नशेखर की कथा से प्रतीत होता है कि यक्ष साधारण मनुष्यों की आकृति के होते थे, किन्तु उनमे कई सिद्धियाँ होती थीं। वे सामान्यत: लोगों के सहायक देवता थे। इस कारण प्राचीन भारत में पक्षपूजा का बहुत महत्व था। पक्षों की पूजा के लिए नगरों में यक्षायतन बने होते थे, इन्हे चैत्य कहते थे।[170] कुमार स्वामी ने वेदों और उपनिषदों का उद्धरण देते हुए यक्षों के विषय मे दो विचार धारायें प्रतिपादित

की हैं-प्रथम भय और अविश्वास जो कि प्राकृतिक क्योंकि आर्य लोग आर्यांतर लोगों के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे। दूसरा विचार पक्षों के विषय में उनके प्रति उच्च सम्मान का था जिसका उल्लेख अथर्ववेद और उपनिषद् में पाया जाता है। उन्ही के अनुसार बनस्पति और जल को वैदिक काल में जीवन का प्रतीक माना गया है जिसका सम्बन्ध यक्षों से रहा है, क्योंकि यक्ष सर्व प्रथम बनस्पतियों के देव समझे जाते थे जो जीवन, रस और जल का प्रतीक है।[171]

रतिलाल मेहता ने जातक कथाओं के आधार पर यह विचार प्रतिपादित किया है कि इन कथाओं में यक्षों की दयालुता का भाव समाप्त सा दिखाई देने लगा था और वे भयानक रूप में चित्रित किये जाने लगे थे। वे मनुष्य एवं जानवरों के माँस पर तथा प्रेत की तरह रेगिस्तान, जंगल, वृक्ष एवं जलों में रहते हुए वर्णित हैं।[172]

आवश्यक चूर्णी में उल्लिखित है कि आडम्बर नामक एक यक्ष का आयतन हाल में मरे हुए हड्डियों के आयतन पर बनाया गया था।[173] निशीथ चूर्णी के उल्लेख से पता चलता है कि यक्ष प्रसन्न होने पर लाभ तथा अप्रसन्न होने पर हानि भी पहुंचाने थे।[174] जैन सूत्रों मे इन्द्रग्रह, धनुग्रह, स्कन्दग्रह और भूतग्रह के साथ-साथ यक्षग्रह का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[175]

भूतः कुवलय माला में भूत का पिशाच के साथ उल्लेख हुआ है, जिसे राजा ने बलि दी थी।[176] पुराणों मे इन्हे भयंकर और मांस भक्षी कहा गया है। **कथा सरितसागर** में इनका परिचय देते हुए कहा गया है कि भूतों के शरीर की छाया नहीं पड़ती, वे हमेशा नाक से बोलते है। जैन साहित्य में भी इनके प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। भूतमह नाम का उत्सव चैत्र पूर्णिमा को मनाया जाने लगा था।[177]

राक्षसः कुवलय माला में एक राक्षस का वर्णन है, जिसने लोभ देव का जहाज बदला लेने के लिए समुद्र में डुबो दिया था और अपनी दायी दीर्घ भुजा के प्रहार से टुकड़े-टुकड़े

कर दिये थे।[178] एक अन्य प्रसंग में भी भूत-पिशाच के साथ राक्षसों को भी श्मशान में मांस खरीदने के लिए बुलाया गया है।[179]

वेताल बैर गुप्त की कथा में वेताल मांस खरीदने श्मशान में आता है तथा उसके मांस को चख कर अग्नि में पकाकर हड्डियों सहित खरीदने को तैयार होता है। वैर गुप्त अपने मांस की कीमत के बदले एक चोर का रहस्य जानना चाहता है। वेताल उसके साहस और बलिदान पर प्रसन्न होकर उसे वर प्रदान करता है। [180] कच्चा मांस खरीदने के लिए वेताल वाण के समय में भी प्रसिद्ध थे। [181]

किन्नरः समराहच्च कहा में किन्नरों का उल्लेख कई बार किया गया। [182] इनके क्रिया कलाप सर्वसाधारण लोगों से कुछ भिन्न होते थे। गन्धर्वो की भाँति ये भी संगीत के प्रेमी होते थे।[183] प्राकृत ग्रंथ **अंगविज्जा** में भी किन्नर-किन्नारी को देवताओं की श्रेणी में गिनाया गया है। [184] प्राचीन भारतीय लोक धर्म के अन्तर्गत किन्नरों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था।[185]

किन्नर का अर्थ बुरा या विकृत पुरूष कहा गया है। पुराणों में इसका सिर घोड़े का और शेष शरीर मनुष्य का बताया गया है।[186] मानसार में भी किन्नारी को अश्व मुखवाली यक्षिणी के समान वर्णित किया गया है।[187] इससे स्पस्ट होता है कि किन्नर का स्वरूप मनुष्यो से कुछ भिन्न ढंग का होता था जिसके कारण इन्हे विकृत पुरूष कहा गया है।[188] **कालिदास** ने भी किन्नरों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।[189] वाण भट्ट ने कादम्बरी में किन्नर मिथुन का उल्लेख किया है।[190] किन्नरो का स्वरूप हमें देवगढ़ ललितपुर जिले में से प्राप्त मूर्ति में देखने को मिलता है। किन्नर मिथुन एक लम्बे के नीचे खण्ड के अन्दर बने सुन्दर वृत्त में एक दूसरों के आमने-सामने खड़े दिखाई देते हैं, उनके ऊपर का भाग मनुष्य का है जो पंख से जुड़ा है, घुटने के नीचे वाला भाग भी मनुष्य जैसा है किन्तु पाँव पक्षी का है तथा गरूड़ की भाँति आश्चर्यजनक ऑखें हैं।[191]

समराइच्च कहा में किन्नरों का उल्लेख कई बार किया गया है।[192] इनके क्रिया कलाप सर्व साधारण लोगों से कुछ भिन्न होते थे। गंधर्वो की भाँति ये भी संगीत के प्रेमी होते थे।[193] प्राकृत ग्रन्थ अंग विज्जा में भी किन्नर किन्नारी को देवताओं की श्रेणी में गिना या गया है।[194] प्राचीन भारतीय लोक धर्म के अन्तर्गत किन्नरों के अस्तित्व में विश्वास किया जाता था।[195]

दिकपालः जैन कथाओं में दिक पालों [196] के अस्तित्व का भी उल्लेख प्राप्त होता था। इन्हे दिशाओं का पालक अर्थात दिशाओं की रक्षा करने वाला देव समझा जाता था। यज्ञादि सत्कर्मो में दिक् पाल पूजा का विधान था।[197] इन्हे मंदिरों के अगले भाग में चारों कोनों पर स्थापित किया जाता था। उनके स्थान इस प्रकार थे। दक्षिण-पूर्व में इन्द्र और अग्नि, दक्षिण-पश्चिम में यम और नैऋव्य, उत्तर-पश्चिम मे वरूण तथा वायु और उत्तर-पूर्व में कुबेर और ईशान देव, मुख्यतयः इनके चार भुजायें थीं लेकिन कभी-कभी दो भुजायें दिखलाई गई है।[198]

चारों दिशाओं के संरक्षक देव के रूप मे इनको मान्यता प्राप्त थी। पौराणिक आख्यानों से भी पताचलता है कि इन दिक्रपालों मे इन्द्रपूर्व के यम दक्षिण के वरूण पश्चिम के कुबेर और उत्तर के अधिपति देव माने जाते थे। इसी प्रकार अग्नि, नैऋत्य वायु और ईशान, क्रमशः दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, उत्तर-पश्चिम और उत्तर पूर्व के संरक्षक देव माने जाते थे।[199]

विद्याधरःसमराइच्च कहा मे विद्या धरों का उल्लेख कई बार किया गया है।[200] तत्कालीन समाज में विद्याधर लोग श्रमणत्य की सिद्धि[201] के साथ-साथ यज्ञ-हवन आदि के द्वारा मंत्र-सिद्धि किया करते थे। सिद्धि से प्राप्त अलौकिक शक्ति के द्वारा वे सर्वसाधारण लोगों को प्रभावित किया करते थे।[202] इन्हीं सिद्धियों के कारण इन्हें देवताओं की श्रेणी में गिना जाता था। किसी महत्वपूर्ण कार्य के अवसर पर ये मुक्तहस्त से पुष्प-वर्षा भी करते थे। [203] **समराइच्च कहा**

में विद्याधरों के नामों का उल्लेख है। उनके स्वामी को विद्याधरों का राजा कहा गया है।[204] एक अन्य जैन ग्रन्थ **अंगविज्जा** में भी विद्या धर को देवताओं की श्रेणी मे गिनाया गया है।[205] **रघुवंश** मे राजा दिलीप के त्याग और भक्ति के ऊपर प्रसन्न होकर विद्याधरों द्वारा उनके ऊपर पुष्प-वृष्टि किये जाने का उल्लेख है।[206] **कथा सरित्सागर** में विद्याधरों का उल्लेख कईवार किया गया है। समशइच्च कहा की ही भाँति इस ग्रन्थ में भी विद्याधरों के राजा[207] तथा उनकी सैन्य शक्ति [208] का उल्लेख है जिसके बल पर वे नगर में शासन करते थे। कथा सरित्सागर की व्याख्या करते हुए पिंजर का विचार है कि प्राचीन भारत में कुछ लोग जादुई शक्ति प्राप्त करने के लिए सन्यस्त जीवन विताते थे, जिस शक्ति को प्राप्त कर लेने पर उसका प्रयोग अच्छे उद्देश्यों के लिए करते थे।[209]

व्यन्तर देव हरिभद्र ने समराइच्च कहा में प्रत्यक्ष देव को कभी वानमन्तर [210] और कमी व्यन्तर सुर[211] कह कर सम्बोधित किया है। सम्भवतः ये दोनो नाम एक ही देवता को सम्बोधित करते हैं। तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि द्वारा इन्हे भी कुछ अलौकिक शक्ति प्राप्त थी जिसका कभी-कभी दुरू पयोग करते थे।[212] भगवान् 'जिनके' सत्कार में इन देवताओं को विशिष्टता प्राप्त थी।[213] **निशीथ चूर्णी** में भी बानमन्तर देव [214] का उल्लेख किया गया है जिन्हे यज्ञ गुहयक आदि की श्रेणी में गिना जाता था। अनेक अवसरों पर वामनन्तर देव को प्रसन्न करने के लिए प्रातः, दोपहर और सन्ध्या के समय पटह बजाया जाता था।[215] **बृहत्कल्पभाष्य** में वामनन्तर देव की पूजा का उल्लेख किया गया है।[216] नया मकान बनकर तैयार होने पर वामनन्तरी की पूजा की जाती थी।[217]

हिन्दू देव मण्डल कुवलयमाला में अनेक देवी देवताओं के उल्लेख विभिन्न प्रसंगो में प्राप्त होते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि जैन कथाकार अपने समय के धार्मिक जीवन से पूर्ण परिचित ही नहीं अपितु सूक्ष्मदृष्टा भी थे। इन्होने ऐसे अनेक देवी-देवताओं का उल्लेख किया है, जो भारत के विभिन्न स्थानो पर पूजे जाते थे। इस देवपरिवार के कवि ने दो भेद

किये हैं-सरागी और विरागी देवता। सर्वज्ञ देव के अतिरिक्त अन्य सभी देवताओं को उन्होंने सरागी कहा है, जो पूजन, अर्चन एवं भक्ति से प्रसन्न होकर धनापि फल प्रदान करते है तथा भक्ति न करने पर रूष्ट हो जाते है।[218] जैन कथाओं में उल्लिखित हिन्दू देव-परिवार इस प्रकार है-

(1) **देवताः** अरविन्द, अरविन्दनाथ, आदित्य, गजेन्द्र, गणाधिप, गोविन्द, त्रिदशेन्द्र, नागेन्द्र, नारायण, पुरन्दर, प्रजापति, बलदेव, महाकाल, रवि, सूय, रुद्र, रेवन्तक, महाभैरव, विनायक, स्कन्द, स्वामीकुमार, शंकर, शशिशेखर, हर, हरि।

(2) **गौण देवताः** किन्नर, किंपुरूष, गन्धर्व, नाग, महोरग, यक्ष, लोकपाल, व्यन्तर, सिद्ध, राक्षस, भूत, पिशाच, वेताल।

(3) **देवियां:** अम्बा, कात्यायनी, कुट्टजा, चण्डिका, जोगिनी, दुर्गा, माता, दिधि, लक्ष्मी, सावित्री, श्री, ह्री, सप्त-मातृकाएँ, पन्थदेवी,[219] जातापहारिणी, पूतना, सकुनी[220] विजया, अपराजिता जयन्ती, कुमारी, अम्बाला, समराइच्चकहा में कथा के प्रसंगो मे विद्या देवी[221] और कहीं शारदा[222] का उल्लेख आया है जिन्हे सरस्वती से अभिज्ञानित किया जाता है। सरस्वती का प्राचीनतम उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर सरस्वती का उल्लेख नदी के रूप में किया गया है। [223] ऋग्वेद में उल्लिखत सरस्वती नदी के तट पर उच्चकोटि की बैदिक संस्कृति का विकास हुआ था। इसी नदी के तट पर बैठकर वैदिक कालीन ऋषि-मुनियों ने वेदों की रचना की। कालान्तर में इसी देवी का रूप मिला और पुनः यह वाणी और ज्ञान की देवी के रूप में मानी जाने लगी।[224] सुशीला खरे ने प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर सरस्वती की उत्पत्ति ब्रह्माण्ड सरोवर से बतायी है।[225] वैदिक काल में तो सरस्वती को नदी के रूप में स्वीकृत किया गया है; किन्तु उत्तर वैदिक काल में इन्हें उत्तरोत्तर वाणी की देवी के रूप में स्वीकृत किया जाने लगा। शतपथ ब्राह्मण [226] तथा **ऐतरेय ब्राहम्ण**[227] में स्पष्ट

रूप से सरस्वती को वाक् की अधिष्ठातृ देवी बताया गया है। सम्भवत: उत्तर वैदिक काल में क्रमश: सरस्वती को, जिन्हें ज्ञान की अधिष्ठातृ देवी के रूप में माना जाने लगा था।

लक्ष्मी:–प्राचीन भारतीय देवी-देवताओं की मान्यता के आधार पर चण्डिका, सरस्वती आदि के साथ ही लक्ष्मी की भी अलौलिक शक्ति में विश्वास किया जाता था। **समराइच्च्व कहा** में लक्ष्मी[228] का उल्लेख तो है किन्तु उनके स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश नही पउता है। श्री तथा लक्ष्मी का उल्लेख ऋग्वेद[229] में भी हुआ है किन्तु वहाँ भी उनके स्वरूप के बारे में कुछ भी स्पष्ट विवरण नहीं है। ऋग्वेद में एक स्थान पर मात अदिति[230] का उल्लेख है। यजुर्वेद में वैदिक देवी अदिति को विष्णु की पत्नी के रूप में दिखाया गया है।[231] **ऋग्वेद** में उन्हें जगन्माता, सर्वप्रदाता तथा प्रकृति की अधिष्ठात्री देवी कहाँ गया है।[232] इन उल्लेखो के आधार पर लक्ष्मी को माता अदिति से भी जोड़ा जा सकता है। **तैत्तिरीय उपनिषद** में लक्ष्मी को वस्त्र, भोजन, पेय, धन आदि की प्रदात्री के रूप में बताया गया है।[233] **ऐतरेय ब्राह्मण** में "श्री" की कामना करने लिए विल्व के पेड़ का यूप शाखा सहित बनाने का उल्लेख मिलता है।[234] बिल्व को श्रीफल कहा गया है।[235] रामायण में श्री कुबेर के साथ सम्बन्धित बतायी गयी है, जो सांसारिक सुख एवं दुख की देवी है।[236] रामायण में एक अन्य स्थान पर लक्षमी को पुष्पक प्रासाद पर कर में कमल लिये हुए दिखाया गया है।[237] महाभारत में लक्षमी की उत्पत्ति समुद्र मंथन से बताई गई जिसका मांगलिक चिन्ह मकर माना गया है।[238] बौद्ध ग्रन्थ **दीर्घनिकाय** के ब्रह्मजाल सूत्र में लक्ष्मी की उपासना वर्णित है।[239] धम्मपद अट्ठकथा[240] में लक्षमी को 'रज्जसिरी दायक' अर्थात् राजा को राज्य दिलाने वाली देवी कहा गया है। जैन ग्रंन्थ **अंगविज्जा** में लक्ष्मी को "श्री" के रूप में उल्लिखित किया गया है।[241] कालदास ने **रघुवंश** में लक्ष्मी को राज्य के रूप में उल्लिखित किया गया है।[242] **मालविकाग्नि मित्र** में कावि ने नायिक की उपमा लक्षमी से की है।[243] विष्णु पुराण में 'श्री' की उत्पत्ति समुद्र मंथन से कहकर उन्हें विष्णु की पत्नी बताया गया है।[244] एक अन्य स्थान पर इन्हें कमलालया कहा गया है।[245]

ब्रह्मा:—भारतीय धार्मिक परम्परा में ब्रह्मा को सृष्टि का रचयिता स्वीकार किया गया है। एक जैन कथा ग्रन्थ में एक स्थान पर उन्हें विधि[246] बताया गया है। एक अन्य स्थान पर इन्हे प्रजापति कहा गया है।[247] प्रजापति को ही कला का अधिष्ठाता देव समझकर संसार का रचयिता कहा गया है।[248] समराइच्चकहा के ये उल्लेख ब्राह्मण धर्म का जैन धर्म पर प्रभाव दर्शित करते हैं। ब्रह्मा का प्राचीनतम इतिहास वैदिक काल का माना जा सकता है। तारापद भट्टाचार्य के अनुसार वैदिक संस्कृति ब्रह्मा के अलौकिक शक्ति का ही विकसित रूप है।[249] उन्ही के अनुसार ब्रह्मा ही संसार, मानव, देव, राक्षस एवं सभी धर्मो के जन्मदाता कहे जाते हैं।[250] यद्यपि ऋग्वेद में 'प्रजापति सूक्त' का वर्णन प्राप्त होता है जिसे कुछ विद्वानो ने सृष्टि का रचयिता देव माना है। लेकिन प्रजापति को कही सवित्र और सोम के विशेषण के रूप में[251] तो कही हिरण्यगर्भ के रूप[252] उल्लिखित किया गया है। भट्टाचार्य के अनुसार वैदिक काल में ब्रहमा का नाम अज्ञात नहीं था। ऋग्वेद में ब्रह्मण स्पति[253] को ब्रह्मा के रूप में प्रयोग किया गया है, यह ब्रह्मणस्पति पूर्व वैदिक कालीन ब्रह्मा का पर्यायवाची है।

ब्रह्मा को एक ही परमसत्ता का पर्यायवाची कहा गया है;

'अविभक्तं च भुतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।[254]

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णुच॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूप से आकाश के सदृश परिपूर्ण होने पर भी चराचर सम्पूर्ण भूतों में विभक्त सा स्थित प्रतीत होता है तथा वह जानने योग्य (परमात्मा विष्णु रूप से) भूतों का धारण पोषण करने वाला और रुद्ररूप से संहार करने वाला तथा ब्रह्मा रूप से सबको उत्पन्न करने वाला है।

विष्णु:—जैन कथाओं में विष्णु पूजा प्रशस्ति तथा उनके स्वरूप आदि का वर्णन नहीं मिलता है फिर भी कही परमेश्वर[255] और कहीं नारायण के नाम से उनका उल्लेख प्राप्त होता है। पौराणिक हिन्दू धार्मिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव), ये तीनों देवता

सभी देवों में क्षेष्ठ माने जाते हैं और इन तीनों में विष्णु का स्थान श्रेष्ठतम है ऋग्वेद में विष्णु की महिमा, मराक्रम एवं पूजा आदि का विस्त०त वर्णन किया गया है।[256] एक स्थान पर विष्णु को बृहत् शरीर एवं युवा रूप में युद्ध में जाते हुए उल्लिखित किया गया है।[257] विष्णु के प्रसिद्ध दस अवतार माने गये हैं, यथा-मत्स्य, कूर्म, बाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण बुद्ध एवं कल्कि।[258] महाभारत के शांति पर्व में विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख है,[259] परन्तु वहाँ 'बुद्ध' की जगह हंस तथा कृष्ण के स्थान पर 'सात्वत्' का नाम आया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में 'विष्णुरोच' कह कर विष्णु की पूज किये जाते का संकेत प्राप्त होता है।[260] इन्हें चतुर्भूज देवता के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है। उनके एक हाथ में शंख, दूसरे में चक्र, तीसरे हाथ में गदा तथा चौथे हाथ में पद्यम् लिय हुए मूर्तियों में दिखाया गया है।[261] वासुदेव, जो कि वैदिक देवता विष्णु के अवतार माने जाते थे तथा दूसरे जिन्हें नारायण के रूप में भी जाना जाने लगा था, की पूजा का प्रचलन पाणिनि के समय से ही प्रारम्भ हो गया था।[262] **तैत्तिरीय आरण्यक** में भी नाराण, वासुदेव और विष्णु को एक ही देवता के रूप में स्वीकर किया गया हैं।[263] नारायण को हरि तथा अनन्त एवं सर्वशक्तिशाली देवता के रूप में स्वीकर किया गया है।[264]

शिवः—कुवलयमाला में शिव के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन प्राप्त होना है। शशिशेखर (जिसके मस्तक पर चन्द्रमा सुशोभित है), की आराधना आत्ममांस के समर्पण के द्वारा की जाती थी, जिसमें प्राण-संशय बना रहता था।[265] सिर पर चन्द्रधारी शिव की मूर्तियों से उद्योतन के इस वर्णन की पुष्टि हो जाती है। शिव को विभिन्न प्रसंगों में उद्योतन ने त्रिनयन, हर, धवलदेह एवं शंकर नाम से सम्बोधित किया है, कुमार कुवलयचन्द्र के अंगो की उपमा त्रिनयन से दी गयी है, किन्तु कुमार त्रिनयन जैसा नहीं हो सकता क्योंकि यवती के शरीर से युक्त उसका वामांग हीन नहीं हैं।[266] शिव के त्रिनेत्र एवं अद्र्धनारीश्वर रूप का स्पष्ट उल्लेख है। शिव का त्रिनेत्र एवं अद्र्धनारीश्वर रूप साहित्य एवं कला में सुविदित है। आर. सी. अग्रवाल ने राजस्थान के आबानेरी, ओसिया एवं मेनाल की अद्र्धनारीशवर मूर्तियों का सुन्दर वर्णन किया

है, एवं खण्डेला अभिलेख का उल्लेख किया है जिससें लगभ्र 7 वीं (645 ई.) सदी में अर्द्धनारीशवर के मंदिर बनवाने का उल्लेख है।[267] शिव के शरीर का रंग, वाहन एवं सिर पर गंगाधारण करने की प्रचलित मान्यताओं को उद्योतन ने एक पंक्ति में सुन्दर एवं अलंकृत रूप में रखा हैं—धवल-वाहण-धवल-देहस्स सिर भ्रमिंत जा विमल-जल[268]। श्वेत शिव मूर्ति, श्वेत नन्दी एवं शिव के सिर पर गंगा की धारा साहित्य में तो प्रचिलित थी ही, प्राचीन भारतीय कला में भी इसका अंकन होने लगा था। संकट के समय हर-हर महादेव का स्मरण किया जाता था तथा हर की यात्रा करने की मनौती मानी जाती थी।[269] इस यात्रा का लक्ष्य हर के किस मंदिर की अर्चना करना था, यह स्पष्ट नहीं है। यात्रियों का जहाज सोपारक बन्दरगाह की तरफ लौट रहा था। समुद्र तूफान में फँसे हुये यात्री हर की मनौती मानकर उससे बचना चाहते थे। अत: संभव है, यह हर का प्रसिद्ध मन्दिर कहीं राजस्थान में ही रहा होगा। राजस्थान में कालकलेश्वर मन्दिर महाकाल की तरह ही पवित्र माना जाता था।[270]

शिव के योगी स्वरूप की तुलना उद्योतन ने विजयापुरी के पामरजनों से की है। वहाँ के कुछ लोग शंकर जैसे अपार वैभव के स्वामी एवं हुंकारते हुए मस्त वृषभ को वश में करने थे (शरीर में भभूति लपेटे हुए शिव वृषभ पर आरूढ)[271] बधेरा से प्राप्त शिव की योगीश्वर मूर्ति से कुवलयमाला का यह कथन प्रमाणित होता।[272]

सूर्यः—जैन कथाओं में अन्य देवी-देवताओं की तरह सूर्य देव की सत्ता में भी विश्वास करने के साक्षय मिलते हैं। समराइच्चकहा में इन्हें दिनकर कहकर ऋषिगण, किन्नर तथा लक्ष्मी आदि से वन्दनीय बताया गया है।[273] सूर्य देव को तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला देवता समझकर उनकी पूजा की जात थी। वह अपनी तेजस्वित के कारण ही तोनों लोकों में वन्दनीय समझे जाते थे।[274] विश्व की प्रत्येक प्राचीन सभ्यता यथा-मिस्र-मेसोपोटामिया, ग्रीक, रोम, ईरान, और भारत में उपासना का उल्लेख पाया गया है।[275] कुछ विचारकों के अनुसार सूर्य की उपासना उत्तर पाषाण काल से ही प्रारम्भ हुई

और सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा उसके बाद तक चलती रही[276] वैदिक काल में सूर्य की उपासना विभिन्न रूपों में की जाती थी। सूर्य के रूप में वह प्रकाश और गर्मी प्रदान करने वाले, सविता के रूप में वह सभी लोगों को यहाँ तक कि मानव मस्तिष्क के विचारों को भी प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करने , विष्णु के रूप में वह सम्पूर्ण जीवों को पैदा करने वाले, पालन करने वाले तथा सम्पन्नता प्रदान करने वाले, पूषन के रूप में वह पशुओं, फसलों, भोजन तथा वनस्पतियों के संरक्षक देव के रूप में पूजनीय थे।[277] मौर्य काल के अंतिम समय से ही सूर्य देव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और तभी से सूर्य-देव की मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ होता है।[278] इण्डोग्रीक, शक और कुषाणों के आगमन पर सूर्य की उपासना का प्रचार और बढ़ गया क्योंकि वे ग (विदेशी) अपने देश में सूर्य पूजा से पूर्व परिचत थे।[279] गुप्तकाल में सूर्य देव के बहुत से मंदिर निर्मत किये गये। मन्दसोर (मालवा) में तथा स्कन्द गुप्त के समय में मध्यदेश में सूर्य मंदिर बनवाया गया जिसमें उन्हें भाष्यकर कह कर उनकी प्रार्थना की गई है।[280] गुप्त प्रशासन के पतन के पश्चात् बहुत से राजवंशों ने, यथा-मौखिरि, थानेश्वर और कन्नौज के वर्धन वंशीय शासक, काश्मीर के काकेटिक तथा बंगाल के पालवंशीय शासक सूर्य के उपासक बने रहे।[281] थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन प्रथम, आदित्यवर्धन, तथा महाराज प्रभाकरवर्धन सूर्य देव के उपासक थे।[282] अलबरूनी ने थानेश्वर नामक नगर में सूर्य देव की एक विशाल मूर्ति देखी थी।[283] प्रतिहार नरेश महेन्द्र पाल द्वितीय के उज्जैन भूमिदान पत्र में सूर्य की उपासना का उल्लेख है।[284] सूर्य देव की मूर्ति को खजुराहो के चतुर्भुज मंदिर की दीवाल पर चित्रित किय गया है, वह सात घोड़ो से खीचे जाने वाले रथ में बैठे हुए चित्रित किय गए हैं।[285] खजुराहों के संग्रहालय में भी सूर्य की मूर्ति देखने को मिलती है। पूर्व मध्य-कालीन भारत में भी वैदिक काल की भाँति भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित कर उनकी उपासना की जाती थीं—यथा-सूर्य[286], इन्द्रादित्य[287] भाष्कर[288] आदित्य[289] और मार्तण्ड[290] आदि। उन्हें समस्त रोगों का हर्ता तथा विश्व का प्रकाशक बताया गया है।[291]

चन्द्रमाः—जैन कथा साहित्य में चन्द्रमा को भी देवता के रूप में जाना जाता था।[292] हवन और यज्ञ आदि कार्यों में अन्य देवताओं की तरह चन्द्रमा की भी अलौकिक शक्ति में विश्वास कर उनकी पूजा का विधान था। वह सफल जन मन आनन्दकारी मृगलक्षण युक्त देव के रूप में पूजनीय थे।[293] **अथर्ववेद** में भी चन्द्रमा को देवताओं की श्रेणी में उल्लिखित किया गया है।[294] विष्णुधर्मोत्तर में रोच देवता का उल्लेख आया है। रोच शब्द का अर्थ रुचि (इच्छा) से लगाया जाता था, वहाँ चन्द्ररोच का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[295] **याज्ञवल्क्य स्मृति** में चन्द्रमा को नौ ग्रहों में से एक माना गया है और इन नौ ग्रहों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र शनि, राहु और केतु) की पूजा के लिए उनकी मूर्तियाँ क्रम से ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना, (बुध तथा बृहस्पति के लिए), रजत, लोहा, सीसा, एवं काँसे की बनी होनी चाहिए।[296] **भगवद् गीता में सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं को विष्णु के नाना रूपों में बताया गया है।[297] इस प्रकार यह बात स्पष्ट होती है कि वैदिक काल से ही चन्द्रमा को सूर्य इन्द्र अग्नि आदि की श्रेणी में रखा जाने लगा था और स्मृतिकाल** तक आते-आते इन्हें (चन्द्रमा को) नौ ग्रहों में से एक मानकर पूजा जाने लगा। यहाँ चन्द्रमा के स्वरूप का उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता है, किन्तु कुछ विद्वानों की राय में तो अग्नि, वायु, आदित्य, पृथ्वी और चन्द्रमा आदि प्रत्यक्ष दिखाई देने में इन्हें मृगलक्षण युक्त बताया गया है। संभवतः इन्हें प्राकृतिक देव के रूप में स्वीकृत किया गया था। प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थ, सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि, यम, कुबेर, आदि देवताओं के स्वरूप गुण अवगुण, मान्यता तथा पूजा आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे का सर्मथन नहीं करते, लेकिन महाकाव्यों में उल्लिखित इन आठ देवताओं बाद के ग्रन्थों में दिक्पाल के रूप में चार मुख्य और चार गौण दिशाओं का अधिपति देव माना जाने लगा।[298]

इन्द्रः—जैन कथाओं में अन्य देवताओं के साथ देवराज इन्द्र[298] की अलौलिक शक्ति में विश्वास का भी उल्लेख है। एक स्थान पर इन्हें पुरंदर[300] कहा गया है। वैदिक काल से इन्द्र की प्रतिभा एवं स्वरूप का संकेत प्राप्त होता है। **ऋग्वेद** में इन्द्र को तुविग्रीय

(शक्तिशाली या मोटी गर्दन वाला), वृकोदर (बड़े उदर वाला) एवं सुबाहु बताया गया है।[301] इन्द्र के अंगों एवं पार्श्वो का वर्णन करते हुए जिव्हा से मधु पीने वाला कहा गया है।[302] ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर इन्द्र को रंगीन बालों एवं दाढ़ी वाला[303] तथा हरे रंग की ठुड़ढी वाला[304] कहा गया है। कभी कभी उन्हें स्वर्ण के रंग वाला बताया गया है।[305] ऋग्वेद में इन्द्र का हथियार वज्र बताया गया है।[306] वे अंकुश भी लिये रहते थे।[308] शत्रुओं को फँसाने के लिए वह एक जाल भी लिये रहते थे।[309] इन्द्र को जन्म से ही बहादुर एवं पराक्रमी बताया गया है।[310] ऋग्वेद में उल्लिखित है कि इन्द्र के जन्म के समय उनके भय से पर्वत, आकाश और पृथ्वी हिल उठे।[311] इन्द्र को वैदिक कालीन भारतीयों का राष्ट्रीय देवता बताया गया है। मैक्डोनल के अनुसार इन्द्र की महत्ता क पता इससे चलता है कि लगभग दो सौ पचास स्तुति मंत्र तथा उनकी प्रशंसा एवं अन्य देवों के साथ प्रशस्ति में उल्लिखित मंत्रो की संख्या तीन सौ के करीब पहुँच जाती है।[312] सर्वप्रथम उन्हें वर्ष्या का देवता (पानी वर्षा ने वाला देव) और दूसरे स्थान पर युद्ध का देवता कहा गया है जिन्होंने युद्ध में आर्यो की सहायता की थी।[313]

यम:–जैन कथा साहित्य में अन्य प्राचीन देवताओं में यम देव की भी महत्ता पायी जाती है। यम को मृत्यु का देवता माना गया है। कढोपनिषद् में यम देव को विशद प्रभाव देखने को मिलता है। **महाभारत** में भी यमदेव के प्रभावशाली अस्तित्व का पता चलता है। महाभारत, उपनिषद् तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथो के आधार पर यम को मृत्यु का देवत स्वीकार किया जाता है तथा उनका वाहन भैंसा माना गया है। समराइच्च कहा में यम भगवान कृतान्त[314] के नाम से सम्बोधित किया गया है। अथर्ववेद के पाप मोचन सूक्त में भी यम देव का उल्लेख प्राप्त होता है।[315] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी 'यमरोच' का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे विदित होता है कि यम की पूजा-अर्चना लोग अपनी रूचि से करते थे (यहाँ रेच का अर्थ रूच अर्थात् इच्छा से लगाया जाता है।[316]

जैन दर्शन

जैनों के मत में जीव अरूपी अर्थात् अभौतिक सत्ता है जो न इद्रियों में उपलब्ध की जा सकती है, न भति और तर्क से। आयारंग का कहना है—"से न दीहै न हस्से न किण्हे न नीले अरूपी सत्ता-से न सद्धे न रूवे न गन्धे न रसे न फासे"[316] और "तक्का जत्थ न विज्जई मई तत्थ न गाहिया-"[318] किन्तु ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, "जै आया से विन्नाया से आया। जेण विजाणाइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए एस आमावाई।"[319] आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान विशुद्धावस्था में अनन्त होता है। इस सर्वज्ञता को केवल ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। इस सर्वज्ञता को केवल ज्ञान की संज्ञा दी जाती है। ज्ञान के साथ ही आत्मा में अनन्त सुख भी स्वाभाविक है। और कम से कम उत्तर काल में, अनन्त क्रिया शक्ति को भी आत्मा में स्वीकार किया गया है।" अरूविणो जीवधणा नाणदंसनसंनिया। अडलं सुहं संवण्णा उवमा जस्स नत्थि उ॥[320] जीव असंख्य हैं और नाना अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं। पृथ्वी जल आदि भौतिक तत्वों में भी जीव पाये जाते हैं और प्राचीन जैन सन्दर्भों में इसकी पर्याप्त चार्चा है। जीव स्थावर भी हैं और जंगम भी। कुछ असंज्ञी हैं जो केवल अनुभव कर सकते हैं, किन्तु ज्ञान में असमर्थ हैं। कुछ संज्ञी हैं जोकि अनुभव और ज्ञान दोनों की सामर्थ्य रखते हैं। सिद्ध जीव सर्वज्ञ होते हैं, पर ज्ञानातिरक्त अनुभव अथवा संवेदन नहीं करते। जीवों की सांसारिक गति कर्म के अधीन है। कर्म के कारण ही उनके जीवन पृथक्-पृथक् नियन्त्रित हैं—"अटु थावर य तसत्ताए तस जीवा या थावरत्ताए। अदु सव्वजोणिया सत्ता फम्मुणा कप्पिया पुढो ।"[321] "कम्मा नानाविहा कटटु पुढो विस्संमिया पया।"[322] कर्म स्वयं एक द्रव्यात्मक और पौद्गलिक पदार्थ है जिसका आधार अज्ञान और उससे उत्पन्न रागद्वेषादि कषाय हैं। कर्म से आत्मा का स्वाभाव आच्छन्न हो जाता है और वह अपने को अज्ञान, अशक्ति और दुख में निमग्न पाती है। जैन कथा साहित्य में जैन दर्शन का प्रधान लक्ष्य आत्मा को सांसारिक मायाजाल से मुक्त कराकर अनन्त सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कराना है।[323] श्रमण और श्रमण आचार्य के अतिरिक्त

कुछ दार्शनिक विचारों का भी विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत लोक-परलोक, जीव गति, कर्म गति आदि का विश्लेषण किय गया है।

जैन कथा साहित्य में संसार गति को दारूण बताया गया है। यहाँ इस संसार गति का हेतु मानव जीवन के कर्मो की परणति है।[324] अत: जीव कर्म संयुक्त पाप से दु:ख तथा धर्म कृत्य से सुख प्राप्त करता है।[325] **भगवती सूत्र** में इस संसार को शाश्वत बताया गया है।[326] भगवान महावीर के अनुसार लोक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अत: वह नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है एवं परिर्वतनशील है। यहाँ रहने वालो की कर्मगति के अनुसार कभी सुख की मात्रा बढ जाती तो कभी दु:ख की। इस संसार में जीव और अजीव नाम की दो वस्तुयें दिखाई देती हैं जो किसी के द्वारा नहीं बनायी गयी हैं।[327] अत: सभी प्राणी अपने कृत्यों के परिणामस्वरूप ही संसार गति के हेतु बनते हैं।[328] जैन दर्शन में जीव दो तरह के माने गये हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। संसारी जीव अपने कर्मो के अनुसार बार बार इस संसार के हेतु बनते हैं, किन्तु मुक्त जीव अपने कर्म बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।[329]

प्राचीनतम निर्गन्थ सन्दर्भो में "कर्म" और "दण्ड" प्राय: परस्पर समानार्थक और परिवर्तनीय पद प्रतीत होते हैं। कर्म और उसका फल दोनों निरंन्तर ही **दु:खात्मक** हैं—"किच्चं दुक्खं पुस्सं दुक्खं कज्जमानकडं दुक्खं कट्टु-कटटु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति[330]" और इस प्रकार दुखमय संसार का कारण कर्म के द्वारा पुरुष स्वयं है—"अत्तकडे दुक्खे ना परकड़े नो उभयकड़े.[331] ।" और अपने ही प्रयत्न के द्वारा दु:ख से मोक्ष भी संभव है—"पुरिसा तुममेव तुंम मित्ता किं बहिया मित्तमिच्छसि।"[332] कर्म का सिद्धान्त जैनों में विशेष विकसित हुआ और उत्तर काल में नाना परिभाषाओं और विभाजनों के द्वारा अत्यन्त जटिल हो गया। किन्तु यह संभव है कि अष्टविध कर्म की धारणा प्राचीन निर्गन्थो में भी विद्यमान थी। मृतक की गति के विषय में यह माना जाता था क जीव के निर्वाण के पाँच मार्ग हैं—पैरो से, उरुआं से, वक्ष से, सिर से और सर्वांग

से। इन पाँच मार्गों से क्रमशः पाँच प्रकार की गति होती है:—निरय, तिर्यक्, मनुष्य देव और सिद्ध। यह विचारणीय है कि उपनिषदों में भी कुछ ऐसी ही धारणाएँ मिलती हैं[333] संसार से मुक्ति के लिए अपूर्व कर्म के आस्रव का निरोध और पूर्व कर्म का अपसारण आवश्यक है। इनमें पहली प्रक्रिया 'संवर' कहलाती है और दूसरी 'निर्जरा'। 'संवर' आध्यात्मिक जीवन का पूर्वांग है, निर्जरा प्रधानांग। 'संवर' में मुख्यतया पाँच महाव्रत संगृहीत थे। सामञ्ञफल सूत्र में निगण्ठों के "चातुप्यामसंवर" का उल्लेख है। वस्तुतः चानुज्जाम अथवा 'पार्श्व के अनुयायियों का संवर था। महावीर ने चतुर्विध संवर को पच्चविध किया। निर्जरा से तप अथवा शरीर को क्लेश देने की प्रक्रिया अभिहित होती है। जैनों की तपस्या का अतिशय सर्व-विदित है। स्वयं महावीर की कृच्छ-चर्या इस विषय में आदर्श के रूप में प्रतिशिष्ठित है।[334] लाट, वज्ज और सुम्ह से वे 13 वर्ष से अधिक बिना आवास के घूमते रहे। नहाना, मुँह धोना, खुजलाना आदि उन्होंने छोड़ दिया मौन, एकान्त, प्रजागर, उपवास, शान्ति, निरन्तर ध्यान आदि का असाधारण अभ्यास किया। **उत्तरज्झयण** में तप के पाँच आध्यात्मिक और पाँच बाह्य भेद बताये गये हैं।[335] अनशन, अवमौदर्य, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश और सन्तीरणा, ये पाँच भेद बाह्य तप के हैं और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्यवसर्ग ये पाँच भेद आंतरिक तप के हैं।

कर्म सिद्धान्त:—जैन कथाओं के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रमाद चेष्टित कर्म की परिणति बड़ी ही दारुण होती है।[336] पातञ्जलयोगदर्शन में तीन प्रकार के कर्मो के सम्बन्ध में व्याख्या की गयी है—"कर्माशुल्काकृष्णं योगिनस्त्रिविधामितरेषाम्"[337] शुक्लकर्म उन कर्मो को कहते हैं, जिनका फल सुखभोग होता है और कृष्णकर्म उन कर्मो को कहते हैं, जो नरक आदि दुःखों के कारण हैं अर्थात् पुण्यकर्मो का नाम शुक्लकर्म है और पाप कर्मो का नाम कृष्ण कर्म है, सिद्ध योगी के कर्म किसी प्रकार का भी भोग देने वाले नहीं होते, क्योंकि उसका चित्त कर्म संस्कारों से शून्य होता है इसलिए उन कर्मो को अशुक्ल और अकृष्ण कहते हैं। योगी के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(1) शुक्ल

अर्थात् पुण्यकर्म, (2) कृष्ण अर्थात् पाप कर्म और (3) शुक्ल कृष्ण अर्थात पुण्य और पाप मिले हुए हैं।

भगवद्गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं" कि कर्म किमकर्मेति कवयोऽवयत्र मोहिताः। तत्ते कर्म प्रक्षयामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यतेऽशुभात् कर्म क्या है, अकर्म क्या है इस प्रकार निर्णय करने में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जते हैं। वह कर्म तत्व तुम को भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाआगे।

कर्मणो ध्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणोगतिः।[339]

कर्मको भी जानना चाहिये और अकर्म को (स्वरूप भी जानना चाहिये, तथा विकर्म को (स्वरूप भी) जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

समराइच्च कहा[342] के अनुसार अशुभ कर्म परिणाम से शीतल जल भी अग्नि का रूप ले लेता है, चन्द्रमा की धवलता अंधकार रूप में बदल जाती है, मित्र शत्रु के रूप में परिणत हो जाता है और अर्थ की बात अनर्थ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। पूर्व जन्मकृत कर्म, भावी जन्म में प्रारब्ध का रूप ग्रहण कर प्रभावशाली हो जाते हैं, कोई भी मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म फल से बच नहीं सकता[341] वासुदेव हिण्ड़ी के अनुसार यदि मनुष्य का आचरण शुद्ध है तो उसकी जीवात्मा स्वर्ग जाती है[342] अतः प्रमाद चेष्टा से युक्त कर्म उभय लोक विरुद्ध माना जाता था।[343] जहाँ चेष्टित कर्म उभयलोक विरद्ध था वहीं अप्रमाद चेष्टित कर्म के आचरण का परिणाम शुभ माना जाता था। सुख एवं आनन्द हेतु शुभ कार्य से विष भी अमृत हो जाता है, अयश भी सुयश में परिणत हो जाता है एवं दुर्वचन भी सुवचन का रूप ले लेता है।[344] सुकृत से ही अधीन उपभोग एवं परिभोग रूपी सुख समझे जाते थे।[345] **भगवती सूत्र** में धार्मिक कृत्यों एवं विचारों से युक्त कर्म को सत्कर्म बताया गया है जिसका

परिणाम शुभ दायक माना जाता था।[346] इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थान पर उल्लेख है कि अपने किये गये पाप कृत्यों के ही परिणाम स्वरूप लोग दुःख के भागी बनते हैं और इन पाप पूर्ण कृत्यों के नष्ट हो जाने पर ही सुख की उपलब्धि कर सकते हैं।[347] कर्मवाद की भावना अत्यन्त काल से ही चली आ रही है।[348] **रामायण में** भी कर्म फल का वर्णंन प्राप्त होता है।[349] जिस तरह का कर्म होगा परिणाम भी उसी तरह का भोगना पड़ेगा। यहाँ बताया गया है कि कौसल्या को पुत्र वियोग सम्भवतः इसलिए हुआ होगा कि उन्होंने पूर्व जन्म में स्त्रियों का पुत्रों से विद्रोह कराया हेगा। **महाभारत** में भी बताया गया है कि जो दोनों लोकों (यह लोक तथा परलोक) को प्राप्त करने का आकांक्षी हो उसे धर्माचरण में मन लगाना चाहिए।[350] **अष्टाध्यायी** से भी पता चलता है कि सुकम से पुण्य फी मिलता है।[351] अच्छे बुरे कर्म करने वालों के लिए विशेष शब्द थे यथा—पुण्यकृत, सुकर्मकृत, पापकृत आदि।[352] **मार्कण्डेय पुराण** में उल्लिखित हैं की कर्म की शक्ति मानव की सबसे बड़ी शक्ति है। यही उसकी सबसे बड़ी विजय है तथा इसीलिए तो स्वर्ग के देवता भी पृथ्वी पर मनुष्य देह में जन्म लेना चाहते हैं।[353] आगे यह भी कहा गया है कि जिन मनुष्यों का चित्त, इंद्रिय और आत्मा अपने वश में हैं एवं जो कर्मं करने में उद्यत हैं उनके लिए स्वर्ग में कुछ या पृथ्वी में कुछ भी ऐसा नहीं है जो ज्ञान और कर्म की उपलब्धि से बाहर हो, जिसे वे चाहें तो न जान सकें या न पा सके अथवा न पहुँच सकें।[354]

अनेकान्तवादी जैन दर्शनः—जैन कथा साहित्य में वर्णन मिलता है कि छात्रों को जीव, अजीव आदि पदार्थो में द्रव्य-स्थित पर्याय को मानने वाले, नय का निरूपण करने वाले, नित्य, अनित्य को अपेक्षाकृत मानने वाले अनेकान्त वाद को पढ़ाया जाता था।[355] जैन दर्शन के लिए उस समय अनेकान्तवाद शब्द प्रयुक्त होता था, जिसमें सप्त पदार्थ निरूपण, स्याद्वादनय, जगत् की नित्यता-अनित्यता आदि पर विचार जैसे सिद्धान्त सम्मिलित थे। प्रस्तुत प्रसंग में यह विचारणीय है कि 'अनेकान्तवाद' शब्द कब से इस दर्शन में प्रयुक्त हुआ तथा आचार्य अकलंक का इसके साथ क्या सम्बन्ध था, जिसके सम्बन्ध में उद्योतन ने कोई संकेत नहीं दिया है। दोनों

ही आचार्यों को आठवीं शताब्दी होने के कारण, इस प्रश्न पर विचार करना महत्वपूर्ण हो जाता है। हरिभद्रसूरि ने अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग किया है। इसके पूर्व भी इस शब्द के प्रयुक्त होने की सम्भावना है।

जैन दर्शन में सम्पूर्ण जगत् का विभाजन दो नित्य द्रव्यों में किया गया है। इन दो द्रव्यों को जीव और अजीव कहा गया है। जीव चेतन द्रव्य है और अजीव अचेतन।[356] एक आत्मा और दूसरा अनात्मा। दूसरे में पुद्-गल के अलावा देश और काल भी आ जाते हैं। इन शब्दों से स्पष्टत: जैन-धर्म का वास्तववादी और सापेक्षवादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। जैन-धर्म के अनुसार जितना निश्चित ज्ञाता अर्थात् जानने वाले का अस्तित्व है उतना ही निश्चित ज्ञेय अर्थात् ज्ञान की वस्तु का भी है। इनमें से अजीव का अपना विशिष्ट है; लेकिन उस स्वरूप को समुचित रूप से तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक जीव से उसका भेद न मालूम हो जाय। इसीलिए उसे 'अजीव' अर्थात् जीव का व्याघाती कहा गया है। जीव का वर्ग अधिक महत्व का है। इसलिए इसका स्वतंत्र रूप से अभिधान किया है। इसे भी भली-भाँति समझने के लिए इसका अजीव भेद जानना आवश्यक है।

अणु सिद्धान्त–'ऐटम' का संस्कृत पर्याय 'अणु' उपनिषदों में पाया जाता है। भारतीय दर्शन के शेष सम्प्रदायों में इसे एक से अधिक मानते हैं और जैन-दर्शन में शायद इसका रूप प्राचीनतम है। उसके अनुसार, अणु सभी एक प्रकार के होते हैं, लेकिन इसके बावजूद वे अनन्त प्रकार की वस्तुओं को उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए जैन-दर्शन में पुद्गल के कुछ अभियोज्य लक्षण है; किन्तु उनके द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर गुणात्मक विभेदन की प्रक्रिया से वह कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है। इस मत के अनुसार तत्वों का उतपरिवर्तन बिलकुल सम्भव है वह रसायनज्ञ का स्वप्नमात्र नहीं है। जैन दर्शन ने पृथ्वी, जल तेजस् और वायु का भेद वैशेषिक इत्यादि कुछ हिन्दू-विचारकों की तरह मौलिक और नित्य नहीं माना है, बल्कि व्युत्पन्न और गौण माना है।[357] उसके अनुसार ये तथाकथित तत्व भी विभाज्य और यौगिक रचना

वाले हैं। गन्ध, रस इत्यादि गुणों का अणुओं में विकास हो जाने पर उनमें अन्तर आ जाते हैं, यद्यपि स्वत: उनमें कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार निभेदित अणुओं से ही शेष भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है। अत: पुद्गल के दो रूप होते हैं-एक सरल या आणविक होता है और दूसरा यौगिक हैं।[358] उपनिषदों को पृथ्वी इत्यादि तत्वों में पहुँचकर नहीं रोक देता। विश्लेषण की प्रक्रिया को और पीछे वहाँ तक पहुँचा देता है, जहाँ गुणात्मक विभेदन अभी शुरू नहीं हुआ होता परन्तु उपनिषद् अन्तिम अवस्था में ब्रह्म को एकमात्र तत्व मानते हैं जबकि जैन-दर्शन उसमें अणुओं की अनन्त संख्या मानता है। न केवल गुणों की दृष्टि से पुद्गल अनियत है, बल्कि परिमाण की दृष्टि से भी उसे अनियत माना गया है। उसकी मात्रा में वृद्धि या ह्रास हुए बिना उसके आयतन में वृद्धि या ह्रास हो सकता है। इस स्थिति को यह मानकर सम्भव बताया गया है कि जब पुद्गल सूक्षम अवस्था में होता है तब उसके कणों की कोई भी संख्या एक स्थूल अणु की जगह में समा सकती है। इस सूक्ष्म अवस्था में रहने वाला पुद्गल ही कर्म है, जो जीव के अन्दर प्रविष्ट होकर संसार का कारण बनता है।[359]

स्याद्वाद: जैन दर्शन के स्याद्वाद नामक सर्वाधिक विलक्षण सिद्धान्त[360] की धारणा है कि सत् का स्वरूप, अत्यधिक अनियत है। 'स्यात्' शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु ('होना') का विधिलिङ् का एक रूप है। इसका अर्थ है 'हो सकता है' 'शायद'। इसलिए स्यादवाद 'शायद' का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का यह तात्पर्य है वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है जा सकता है और प्रत्येक दृष्टिकोण से एक भिन्न निष्कर्ष प्राप्त होता है (अनेकान्त) वस्तु का स्वरूप पूरी तरह से इनमें से किसी के द्वारा भी व्यक्त नही होता, क्योंकि उसमें जो वैविध्य मूर्तिमान् होता है उसपर सभी विधेय लागू हो सकते हैं। अत: प्रत्येक कथन असल में सोपाधिक मात्र होता है। एकान्त विधान और एकान्त निषेध दोनो गलत हैं। जैन एक कथा के द्वारा इस बात को समझाते हैं, जिसके अनुसार अनेक अन्धे एक हाथी को छूकर उसकी आकृति के विषय में तरह-तरह की बातें हैं जबकि असल में प्रत्येक हाथी के एक अलग ही भाग को छू पाता है। यह सिद्धान्त बताता है कि हमें अत्यधिक सतर्क रहना चाहिए और वस्तु के स्वरूप की

परिभाषा देने में कोई साग्रह कथन करने से बचना चाहिए। इस सिद्धान्त का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए उन परिस्थितियों को जान लेना जरूरी है, जिनमें इसका प्रतिपादन किया गया था। उस काल में एक ओर तो उपनिषदों का यह मत प्रचलित था कि सत् ही तत्व है और दूसरी ओर अस्वीकृति के साथ यह मत भी था कि असत् ही तत्व है।[361] जैन दर्शन के अनुसार ये दोनों ही मत अंशतः सही है। जैनों की दृष्टि में उपनिषदों में ही कहीं-कहीं पाए जाने वाले वे दो अन्य मत भी इतने ही एकान्तिक हैं जिनके अनुसार सत् और असत् होना चाहिए या दोनों में से कोई भी नहीं।[362] इस प्रकार जैनों का विलक्षण सूक्ष्मता-प्रेम अस्ति न नास्ति', के दो प्रसिद्ध विकल्पों के साथ 'अस्ति नास्ति' और 'न अस्ति न नास्ति', ये दो और विकल्प जोड़ देता है। जैनों के विचार से तत्व का स्वरूप इतना जटिल है कि उसके बारे में इन मतों में से प्रत्येक अंशतः तो सही है, लेकिन पूर्णतः सही कोई भी नहीं है। उसके सही स्वरूप का सीधे और एक वाक्य में वर्णन करने के सारे प्रयत्न असफल रहते हैं फिर भी अंशतः सही कथनों की एक श्रृंखला के द्वारा, किसी एक से अपने को एकान्त रूप में न बाँधते हुए, हमारा उसे बता सकना असम्भव नहीं है। इसलिए जैन उसके स्वरूप का सात चरणों में कथन करते हैं, जिसे 'सप्तभंगी' कहा गया है। यह इस प्रकार हैः

(1) शायद है (स्यात् अस्ति)

(2) शायद नहीं है (स्यात् नास्ति)

(3) शायद है भी और नहीं भी (स्यात अस्ति नास्ति)

(4) शायद अनिर्वचनीय है (स्यात अवक्तव्यः)।

(5) शायद है और अनिर्वचनीय है (स्यात अस्ति च अवक्तव्यः)

(6) शायद नहीं है और अनिर्वचनीय है (स्यात नास्ति च अववक्तव्य)

(7) शायद है, नहीं है, और अनिर्वचनीय है (स्यात अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यः)।

जैन धर्म 'सम्यक् दर्शन' (आस्था), 'सम्यक ज्ञान' सम्यक चरित्र को त्रिरत्न अर्थात् जीवन के तीन बहुमूल्य सिद्धान्त बताता है।[363] इनमें से पहला सिद्धान्त सम्यक् दर्शन को दिया गया है, क्यों कि यदि आस्थाएँ भ्रान्त हैं तो सम्यक् चरित्र का अधिकांश मूल्य सामाप्त हो जाता है। सम्यक दर्शन जैनशास्त्रों और उनके उपदेशों में दृढ़ विश्वास है और इसका अभिप्राय विशेष रूप से यह है कि संशय, जो आध्यात्मिक विकास में बाधक होता है, बिलकुल दूर हो जाय। सम्यक् ज्ञान जैन-धर्म और दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान है। सम्यक् चरित्र जैन साहाना का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि सम्यक चरित्र से से ही मनुष्य 'कर्म' से मुक्त हो सकता है और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसके समान्य स्वरूप को बताने के लिए प्रसिद्ध पाँच व्रतों का उल्लेख कर देना प्रर्याप्त है। श्रमण के लिए ये पाँच व्रत इस प्रकार बताये गए है: (1) किसी प्राणी को हानि न पहुंचाना (अहिंसा) (2) झूठ न बोलना (सत्य) (3) चोरी न करना (अस्तेय) (4) ब्रहाचर्य तथा (5) संसार का त्याग (अपरिग्रह)। गृहस्य के लिए पहले तीन व्रत तो यही हैं, लेकिन अन्तिम दो के स्थान पर क्रमशः संयम और सन्तोष, अर्थात, अपनी अवश्यकताओं को कठोरता के साथ सीमित रखना, निर्धारित किये गये हैं। जैन को जिन विभिन्न सद्गुणों का अभ्यास करने के लिए कहा गया है, उसमें अहिंसा का सिद्धान्त निस्सन्देह भारत में प्राचीन है,[364] किन्तु जिस तरीके से इसे सम्पूर्ण आचार-संहिता में व्याप्त कर दिया गया है वह जैन धर्म की विशेपता है।

शैव धर्मः आठवीं शताब्दी में शैव धर्म पर्याप्त विकसित हो चुका था। उसके स्वरूप में पौराणिक तत्वों का समावेश हो गया था। रूद्र में शिव के सम्बन्धों में घनिष्ठता थी। लिंग पूजा का सूत्रपात हो चुका था। शैव धर्म अब अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था। शैव कापालिक, कालामुख, कौल, आदि उनमें प्रमुख थे शिव के विभिन्न रूप-महाकाल शशिशेखर, हर, शंकर, त्रिनेत्र, अर्द्धनारीश्वर, योगीराज आदि तत्कालीन समाज में प्रसिद्ध थे। शैव परिवार में रूद्र, स्कन्द, षड़मुख, गजेन्द्र, विनायक गणाधिप, वीरभद्र आदि देवता कात्यानी कोट्टजा, दुर्गा अम्बा आदि देवियाँ, भूत पिशाच आदि गण सम्मिलित थे, जिनके सम्बन्ध में कुवलयमाला से पर्याप्त

जानकारी मिलती है। उद्योतनसूरि ने इस ग्रन्थ में राजा दृढवर्मन की शिक्षा के समय जिन 33 आचार्यो के मतों का उल्लेख किया है उनमें शैव, वैष्णव, पौराणिक आर्जीवक आदि धर्मो के विभिन्न सम्प्रदायों का समावेश है। धार्मिक आचार्य अपने अपने मत का परिचय देते हैं। राजा उनके हिताहित का विचार करता है। इस सन्दर्भ में शैव धर्म के निम्नांकित सम्प्रदायों का वर्णन उपलब्ध होता है।

कापालिक::—धर्म में स्थित (साधु) जो अपना एवं अपनी पत्नी का शरीर समर्पित करता है, वह साधु तैरते हुए तुंबे के समान उस व्यक्ति को उस भव-समुद्र से पारकर देता है।[365] इस मत के आचार्य का सम्बन्ध उस समय के प्रचिलित साधुओं के धर्म से प्रतीत होता है। कापालिक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में साहित्यक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों से जो जानकारी प्राप्त होती है, उससे स्पस्ट है कि वे शैव सम्प्रदाय की शाखा के साधु थे। कापालिकों का उल्लेख ललितविस्तर [366], भवभूति के मालती माद्यव, [367] समराइच्च कहा [368], यशास्तिलक, [369] यामुनाचार्य के आगम-प्रमाण आदि ग्रन्थों में मिलता है, जिससे उनकी धार्मिक क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है।[370] उद्योतन सूरि ने कापालिकों का दो बार उल्लेख किया है। मित्रद्रोह का पाप कापालिक व्रत धारण से दूर हो सकता है।[371] तथा महामसान में सुन्दरी अपने पति के शवकी रक्षा करती हुई कापालिक बालिका सदृश दिखाई पड़ती थी।[372] इससे स्पष्ट है कि आठवीं सदी में कापालिक मत के साधु श्मशान में स्त्रियों के साथ शव साधना से सम्बन्धित तांत्रिक क्रियाएँ करते थे। कापालिकों की धार्मिक क्रियाओं में सहवास पर कोई निषेध नहीं था। कापालिक साधु भगासनस्थ होकर आत्मा का ध्यान करता था।[373] 10 वीं सदी तक ये त्रिकमत को मानने लगे थे, जिसके अनुसार बायी ओर स्त्री को बैठाकर स्वयं शिव एवं पार्वती के समान आचरण करना विहित था।[374] मद्य-मांस एवं स्त्रियों के सहवास के कारण ही सोमदेव ने जैन साधुओं को कापालिकों का सम्पर्क होने पर मन्त्र-स्नान करने को कहा है। सम्भवतः इसीलिए इन कापालिको को भोगी होने के कारण मुनि नहीं माना जाता था एवँ जो मुनि नहीं

हैं, उन्हें दान देने से क्या फायदा ? वे जल में शिला की भाँति किसी को तारने में कहाँ तक समर्थ हो सकते हैं ?[375]

वैष्णव धर्मः –वैष्णव धर्म वैदिक युग से विकसित होता हुआ गुप्त युग में पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था। प्रारम्भ में इसका नाम एकान्तिक धर्म था। जब यह साम्प्रदायिक बन गया तो भागवत या पॉचरात्र धर्म कहलाने लगा। धीरे धीरे वासुदेवोपासना में नारायण और विष्णु की उपासना घुल-मिल गयी। विष्णु ने देवताओं में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। सम्भवतः आठवीं शताब्दी में शैव सम्प्रदायों का आधिक्य अथवा प्रभाव होने के कारण वैष्णव धर्म की स्थिति में कुछ कभी आयी हो। इस समय वैष्णव धर्म का वही स्वरूप प्रचिलित रहा जिसमें भक्ति की प्रधानता थी। शंकर के अद्धैवतवाद एवँ जगन्मिथ्यात्व के सिद्धान्त ने वैष्णव धर्म के स्वरूप को परिवर्तन की ओर प्रेरित किया।[376] कुवलयमाला में जितने शैवधर्म के सन्दर्भ हैं, उतने वैष्णव धर्म के नहीं। स्वयं विष्णु का ही उल्लेख ग्रन्थकार नें नही किया है। संभवतः इस समय उनके बुद्ध, नारायण आदि अवतार अधिक प्रचिलित रहे होंगे।

तापसः –समराइच्च कहा के अनुसार ध्यान-योग आदि का आचरण करने वाले दयालु स्वाभाव के तपोपवन वासी ऋषि धन्य समझे जाते थे।[377] तत्कालीन तपाचरण करने वाले वैदिक साधु संन्यासियो की दो श्रेणियाँ थीं। प्रथम साधारण तापस तथा दूसरे कुलपति। उत्तम तिथि मुहुर्त में कुलपति द्वारा तपस्वियों को आश्रम में दीक्षित किया जाता था। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ये तपस्वी कुलपति की सेवा करते हुए तप, व्रत, धर्म आदि का आचरण करते थे।[378] अतः वे वनवासी (आश्रम में कुल-पति की सेवा करते हुए तपाचरण करने वाले। तापस कहे जाते थे।[379] उन तपोवन का सेवन करने वालो में बालक मुनि [380] तथा मुनि कुमार[381] का भी उल्लेख मिलता है। **महाभाष्य** में वानप्रस्थ के लिए तपस्वी शब्द का प्रयोग किया गया है जिनका लक्ष्य ही तपाचरण [382] करना था। काशिकाकार के अनुसार अस्थिचमर्वाशिष्ट तापस स्वर्ग प्राप्ति के लिए तप करता है।[383] तप, श्रद्धा, आदि जीवन के अभिन्न अग थे तथा

भोजन पर नियंत्रण रखना तपस्या के लिए एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता था।[384] तपस्वीजनों की तपश्चर्या तथा उनके रहन सहन का उल्लेख धर्म सूत्रों तथा स्मृतियों में किया गया है।

ये दस प्रकार के यतिधर्म पालन में निपुण एवं दिव्य ज्ञान युक्त होते थे।[385] वे आश्रम में रहने वाले सभी तपस्वियों के आचार्य एवं गुरू होते थे।[386] अन्य तपस्वियों से लेकर साधारण गृहस्थ तक उन्हें बन्दना-पूजा आदि के साथ सम्मान प्रदान करते थे।[387] ऐसे तपस्वियों को कुलपति ऋषि अथवा महर्षि[388] कहा जाता था, जिनकी वाणी अमोध समझी जाती थी।[389] तपस्वी जन सम्पूर्ण प्राणी वर्ग से जननी के सदृश व्यवहार करते थे।[390] **समराइच्चकहा में ऋषि** को (आश्रम के आचार्य को) ही कुलपति कहा गया है। कुलपति का उल्लेख रघुवंश[391] तथा उत्तर रामचरित[392] में भी किया गया है। वाणभट्ट ने **कादम्बरी** में महामुनि अगस्त[393] तथा शरीर में भस्म लागाये एवं मस्तक पर त्रिपुण्ड लगाए महर्षि जाबालि[394] का उल्लेख किया है जो अपने आश्रम में रहते हुए अन्य मुनिजनों से सेवित तथा धर्मपालन में निपुण समझे जाते थे। **वशिष्ठ धर्म सूत्र** में कहा गया है कि मुनिजन सबको अभय प्रदान करते चलते हैं, इसलिए उसे किसी से भय नहीं होता।[395]

वैदिक धर्माचरण करने वाले तपस्वियों की भाँति कुलपति के आश्रम में नारी-तापसी भी होती थीं। वे तापसी पुत्रंजीवक माला गले में धारण करती, वल्कल वस्त्र पहनती तथा हाथ में कमण्डल लिये रहती थीं।[396] वे तापसी तपाचरण से कृशगात कन्दमूल-फल आदि खाकर अपनी वृत्ति चलाती थीं[397] वे कुलपति की आज्ञानुसार आचरण करती तथा उनकी वन्दना पूजा करती हुई तप-संयम आदि का आचारण करती थीं। समराइच्च कहा के इन उल्लेखों का समर्थन वैदिक परंपरा के ग्रन्थो से भी होता है। पतंजलि ने शंकरा नाम की परिब्राजिका का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुणखाडव उसे शंकरा कहते हैं।[398] कुछ लोग बिना गृहस्था श्रम में प्रविष्ट हुए सीधे बैखानस ब्रत ले लेते थे। अपस्तम्ब धर्म सूत्र में इस प्रकार का विधान है।[399] इसीलिए अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त शकुन्तला के विषय में जिज्ञासा करते है कि क्या वह

विवाह-होने तक ही बैखानस ब्रत का पालन करेगी अथवा यवज्जीवन।[400] पाणिनि ने कुमार श्रमणवादिभि:[401] के श्रमणादिगण में पठित श्रमण, तापसी, प्रव्रजिता शब्द का उल्लेख किया है, जिनका कुमार (कुमारी) शब्द के साथ तत्पुरूष समास का विधान किया गया है। कालिदास ने माल विकाग्निभित्र में पण्डिता कौशिकी का उल्लेख संन्यासी के रूप में किया है।[403] इस प्रकार हम देखते हैं कि **समराइच्चकहा** में हरिभद्र के अनुसार जैन श्रमण संघ की भाँति वैदिक तपस्वियों के आश्रम में भी स्त्रियों के प्रवेश का जो उल्लेख है वह वैदिक परम्परा का उपयुक्त विवरण है।

सांख्य दर्शन:-सांख्य दर्शन से सम्बन्धित जानकारी कुवलयमाला के दो-तीन प्रसंगों से मिलती है।[404] दक्षिण भारत के मठ में उत्पत्ति, विनाश में रहित अवस्थित, नित्य, एक स्वाभावी पुरूष का तथा सुख-दुखानुभाव रूप प्रकृति विशेप (वैपम्यावस्था को प्राप्त प्रकृति) को बतलाते हुए सांख्य दर्शन का व्याख्यान हो रहा था। इस सन्दर्भ में उग्गाहीयइ क्रिय से ज्ञात होता कि सांख्य-दर्शन का व्याख्यान गाथाओं को गाकर किया जा रहा था सम्भव है, सांख्यकारिका की करिकायें गाकर समझाई जा रही हों आठवीं शताब्दी तक सांख्यकारिका निश्चित रूप से प्रसिद्ध हो चुकी थी। उसका चीनी अनुवाद इस समय किया जा चुका था, जो इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि का द्योतक है।[405] कुवलयमाला में धार्मिक आचार्यो के साथ कपिल का भी उल्लेख हुआ है।

गीता में सांख्य को ज्ञानयोग तथा सन्यासयोग नाम से भी वर्णन किया गया है। सांख्य नाम रखने का भी कारण हो सकता है कि इनमें गिने हुए पच्चीस तत्व माने गये हैं। सांख्य नामकरण का रहस्य एक विशिष्ट सिद्धान्त 'प्रकृतिपुरुपान्यताख्याति' में छिपा हुआ है; क्यों कि 'प्रकृतिपुरुपान्यताख्याति' या 'प्रकतिपुरुपविवेक' का ही दूसरा नाम 'सांख्या = सम्यक्, ख्याति = सम्यक ज्ञान = विवेकज्ञान' है। किसी वस्तु के विपय में तद्गत दोपों तथा गुणों की छानवीन करना भी 'सांख्य' कहलाता है। यथा–

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।

कश्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम् ॥[406]

"संख्या का अर्थ आत्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान भी किया गया है यथा–

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।[406]

सांख्य के प्रर्वतक श्री कपिल मुनि हैं और योग दर्शन के निर्माता श्री पतंजलि मुनि

कपिलमुनि आदि विद्धान् और प्रथम दार्शनिक हैं।

यथा–सिद्धानां कपिलो मुनिः।[408]

सिद्धों में कपिल मुनि हूँ।

ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति।[409]

जो पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि का ज्ञान से भर देता है तथा

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारूण्याद भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।[410]

आदिविद्वान (प्रथम दार्शनिक) भगवान परमऋषि (कपिल) ने निर्माणचित्त (संसारिक संस्कारों से शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दयाभाव से (सांख्य) शास्त्र का उपदेश दिया।

सर्गादावादिविद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञान वैराग्यैश्रवर्यसम्पन्नः प्रादुर्वभूव।[411]

सृष्टि के आदि में आदि विद्वान् पूजनीय महामुनि कपिल धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न प्रकट हुए।

सांख्य के मुख्य ग्रन्थ–(1) परम ऋषि कपिल मुनिप्रणीत 'तत्वसमास' (2) पंचाशिखाचार्य के सूत्र (3) वार्षगण्याचार्य प्रणीत षष्टि-तन्त्र (4) सांख्यसप्तति (5) सांख्यसूत्र

कपिलमुनि प्रणीत तत्वसमास (प्राचीन सांख्य दर्शन की व्याख्या) तत्वमसि[112]

संसार में प्रत्येक प्राणी की प्रबल इच्छा पायी जाती है कि 'मैं सुखी होऊँ,' दुःखी कभी न होऊँ। किन्तु सुख की प्राप्ति बिना दुःख की निवृति असम्भव है; क्योंकि दुःख की निवृत्ति का नाम ही सुख है इसलिये सुख के अभिलाषियों को दुःख की जड़ काट देनी चाहिये। दुःख की जड़ अज्ञान है। जितना कम अज्ञान होगा, उतना ही कम दुःख होगा। ज्ञान और अज्ञान तत्त्वों के सम्बन्ध से हैं। जिस तत्व का अज्ञान होगा, उसी से दुःख होगा। जिस वस्तु का जितना यथार्थज्ञान होता जायगा, उससे उतनी ही दुःखनिवृत्तिरूप सुख की प्राप्ति होती जायेगी। जब सारे तत्वों का ज्ञान हो जायगा तो सारे तत्वों से अभरूप सुख का लाभ होगा। इसलिये सारे तत्वों का यथार्थ ज्ञान ही दुःखों की जड़ का काटना है अतः सारे तत्वों का संक्षेप से विचार आरम्भ किया जाता है।

जड़तत्वः–दुःख–निवृत्ति की इच्छा और प्रयत्न करने वाले का दुःख स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता, क्यों कि यदि ऐसा होता तो वह उसकी निवृत्तिका यत्न ही नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि दुःख निवृत्ति की इच्छा करने वाले से भिन्न उससे विपरीत धर्म वाला कोई दूसरा तत्व है, जिसका स्वाभाविक धर्म दुःख और जडता है। यदि कहा जाय कि दुःखनिवृत्ति की इच्छा और प्रयत्न करने वाला ही एक अकेला चेतनतत्व है। उससे भिन्न कोई दूसरा तत्व नहीं है। दुःख की प्रतिति अविद्या, अज्ञान, भ्रम, अथवा माया से होती है तो ये अविद्या, अज्ञान भ्रम और माया भी स्वयं किसी भिन्न तत्व के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं जिसके ये स्वाभाविक धर्म हैं। यदि यह कहाँ कहा जाय कि यह चेतन तत्व से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तो यह स्वाभाविक धर्म होने से दुःख की कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकेगी और उसके लिए किसी भी प्रकार का यत्न करना व्यर्थ होगा। यदि ऐसा माना जाय कि उस चेतन तत्व को ठीक-ठीक न जानने से यह भ्रम इत्यादि हो रहा है। यथार्थ रूप जानने से सब भ्रम और दुःखों की निवृति हो जाती है, तो इससे भी किसी भिन्न तत्व की सिद्धि होती है; क्यों कि जानना किसी दूसरी

वस्तु का होता है। सबके जानने वाले को किससे जाना जा सकता है। यथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।' इससे सिद्ध होता है कि चेतनतत्व से भिन्न एक जडतत्व है। उसका यथार्थरूप समझाने के लिये अगले दो सूत्रों में उसको चौबीय अवान्तर भेदों में विभक्त कर दिखलाते हैं।

अष्टौ प्रकृतय:[413]

षोडश विकारा:

(जड़तत्व के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति हैं, उनमें से) आठ प्रकृतियाँ हैं—प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति महत्तत्व, अहंकार और पाँच तन्मामात्राएं अर्थात् शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप—तन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा; और सोलह विकृतियाँ हैं-पाँच स्थूलभूत आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथ्वी, और ग्यारह इन्द्रियाँ, अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण और पाँच कर्मेन्दियाँ-वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा और ग्यारहवाँ मन।

चेतनतत्व (पुरूष) पुरूष:[414]पुरूष के अर्थो का स्पष्टीकरण-पचीसवाँ चेतन तत्व पुरुष है:-(1) जीव (2) हिरण्यगर्भ अर्थात् ईश्वर अपरब्रह्म और (3) परमात्मा अर्थात् परब्रह्म। अर्थात्

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।

पुरूषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाश्चैव ॥[415]

तथा

जन्मादिव्यवस्थात: पुरूषबहुत्वम्।[416]

सांख्यदर्शन के अनुसार व्यष्टि अन्त:करणों के धर्मो अथवा स्थूल, सूक्ष्म और शरीरों की क्रियाओं के भेद से इन व्यष्टि अन्त: करणों अथवा व्यष्टि शरीरों की अपेक्षा से जीव अर्थ पुरूष में बहुत्व दिखलाया है और (2) समष्टि अन्त: करण की अपेक्षा से समष्टिरूपेण ईश्वर अर्थ पुरूष में एकत्व इस प्रकार दिखलाया है—जैसे वृक्षों के समूह की वनरूप एक संज्ञा होती है

और (3) परब्रह्म के शुद्ध निर्विशेष स्वरूप पुरूष अर्थ में आत्माओं के अन्तःकरणों अथवा स्थूल, सूक्षम और कारण शरीर से परे केवली अवस्था में एक जाति के सदृश एकत्व दिखलाया है।

वास्तव में ईश्वर के अर्थ में पुरूष का स्वरूप इस प्रकार है कि व्यष्टिसत्व चित्तों में सत्व की विशुद्धता, सर्वज्ञता का बीज तथा धर्म ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्यादि सतिशय हैं। जहाँ पर ये पराकाष्ठा को पहुँचकर निरतिशयतर को प्राप्त होते हैं, वह विशुद्ध सत्वमय चित्त समपटचित है। इसकी अपेक्षा से चेतनातत्व की संज्ञा ईश्वर, शबल है। इसकी अपेक्षा से चेतना तत्व की संज्ञा ईश्वर, शबल ब्रह्म और अपर ब्रह्म है। उसमें एकत्व है और व्यष्टिपिण्ड़ों अथवा चित्तों और समष्टि ब्रह्माण्ड़ अथवा विशुद्ध सत्वमय चित्त से परे जो चेतन तत्व का अपना शुद्ध केवली स्वरूप है ऐसे अर्थ वाले पुरूष की संज्ञा परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म तथा परब्रह्म है। सांख्य ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को सर्वव्यापक, निर्गुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकार अपरिणाम कूटस्थ नित्य माना है। हो सांख्य ग्रन्थ के इन टीकाकारों को भी अभिमत है। इसके अनुसार आत्मा में जाति नहीं रह सकती, क्योंकि जो विभु है उसमें जाति नहीं रहती—जैसे आकाश। इसके अतिरिक्त एक जाति में जो व्यक्तियाँ होती हैं, उन व्यक्तियों में परस्पर भेद अथवा विलक्षण्ता में के निमित्त कारण रूप, अवयवों के की बनावट, गुण, कर्म, देश, काल दिशा आदि होते हैं। उपर्युक्त बतलाये हुए आत्मा के लक्षण में इनमें से किसी भी निमित्त की सम्भावना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जड़, अग्नि का वायु आदि के शुद्ध स्वरूप में एकत्व है तो गुणातीत आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वरूप में बहुत्व कैसे सम्भव हो सकता है? कपिल जैसे आदि विद्वान् और सांख्य जैसी विशाल प्राचीन दर्शन के साथ पुरूष अर्थ परब्रह्म के इस प्रकार के लक्षण का कोई मेल नहीं बैठ सकता। बहुत सम्मभव है कि नवीन वेदान्तियों के कटाक्ष के विरोध में नवीन सांख्यादियों ने भी अद्वैत के खण्डन और द्वैत के सर्मथन में इस प्रकार की युक्तियों के प्रयोग करने में कोई दोष न समझा हो। फिर भी प्राचीन सांख्य और इन नवीन सांख्यवादियों में आत्मा का शुद्ध केवली स्वरूप एक प्रकार का है। ध्येय वस्तु के

स्वरूप अथवा लक्षण में कोई नहीं है, केवल कहने मात्र के लिए एकत्व और बहुत्व में भेद है। जाति से अभिप्राय सत्तमात्र ज्ञानस्वरूप माननें में कोई दोष नहीं आता है।

मीमांसा दर्शनः–जैन कथा साहित्य में मीमांसा दर्शन को पढ़ये जाने की पुष्टि होती है। एक मठ के व्याख्यानकक्ष में 'प्रत्यक्ष, अनुमान आदि छः प्रमाणों से निरुपित जीव आदि को नित्य मानने वाले, तथा वाक्य पद एवं शब्द-प्रमाण को स्वीकारने वाले मीमांसाको का दर्शन पढाया जा रहा था।[417] आठवीं शताब्दी में पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के दिग्गज विद्वान उपस्थित थे, जिन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों को भी प्रभावित किया था। प्रभाकर, कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य उनमें प्रमुख थे। उपर्युक्त सिद्धान्त इनमें से किससे अधिक सम्बन्धित थे इस पर विचार किया जा सकता है।

उपयुर्क्त सन्दर्भ में छः प्रमाणों की बात कही गयी हैं। मीमांसा के भट्ट तथा प्रभाकर सम्प्रदायों में से सम्प्रदाय ही छः प्रमाणों को मानता है। प्रभागर केवल पाँच प्रमाण मानते हैं। अतः इस आधार पर कहा जा सकता है क कुमारिल के ग्रन्थ का अध्ययन इस मठ में कराया जा रहा था। इसका एक सहायक प्रमाण यह भी है कि उक्त सन्दर्भ में 'सर्वज्ञ नहीं है', इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन हुआ है। सर्वज्ञ की नास्तिकता का स्पष्ट उल्लेख कुमारिल ने ही किया है।[418] जीव को नित्य मानना मीमांसा को का सामान्य सिद्धान्त है।[419]

वेदान्तः–कुवलयमाला में अद्वैतवादियों का वर्णन हैं "अचेतन पर्दार्थो में स्वयं गतिशील, नित्य-अनित्य से रहित, अनादिनिधन एक ही परमात्मा है, जो परम पुरूष है।[420] यह एकात्मवादियों का सिद्धान्त था। राजा इसे यह कर अस्वीकार कर देता है कि यदि एक ही आत्मा होता तो सुख-दुःख, अनेक रूप आदि का व्यवहार नहीं होता तथा एक के दुःखी होने से सभी दुःखी होंगें[421]। भारतीय दर्शन में एकात्मवादियों का यह सिद्धान्त आत्माद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। उपनिषदों में 'एकोदेवः सर्वभुतेषुगूढः[422] एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म[423], आदि वाक्यों से

इसका विकास हुआ है। गीता में परमात्मा कृष्ण की प्रतिष्ठा आत्माद्वैतवाद से ही प्रभावित है।[424]

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एक ही भाव से स्थित रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सबसे समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

शंकराचार्य के पूर्व भगवद्गीता, उपनिषद, और ब्रह्मसूत्र वेदान्त के प्रस्थानत्रयी कहे जाते थे।

पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा:–कर्मकाण्ड–वेदमन्त्रों में बतलाये हुए कर्तव्य कर्मों अर्थात् दूष्ट और पूत्त कर्मों की शिक्षा का नाम कर्मकाण्ड है। इष्ट वे कर्म हैं, जिनकी विधि मन्त्रों में दी गई हो, जैसे यज्ञादि; और पूत्त वे सामजिक कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेद में हो किन्तु विधि लौकिक हो, जैसे पाठशाला. कूप, विद्यालय अनाथालय आदि बनवाना इत्यादि। इन दोनों कर्मों के तीन अवान्तर भेद हैं–नित्मकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म।

(1) नित्यकर्म–जो नित्य करने योग्य हैं, जैसे पंच महायज्ञ आदि।

(2) नैमित्तिक–वे कर्म हैं जो किसीनिमित्त के होने पर किये जायँ, जैसे पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म-संस्कार

(3) काम्य कर्म–जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामना से किये जायँ। इनके अतिरिक्त कर्मों के दो और भेद हैं, निषिद्ध कर्म और प्रायश्चित कर्म।

(क)–निषिद्ध कर्म-जिनके करने का शास्त्रों में निषेध हो

(ख)—प्रायश्चित कर्म-जो विहि कर्म के न करने अथवा विधिविरुद्ध के करने या वर्जित कर्म करने से अन्तःकरण पर मलिन संस्कार पड़ जाते हैं, उनके धोने के लिए किये जांय कर्मो का फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फल करेगा ही। अतः इनमें निवृत्ति वांच्छनीय है, परन्तु नित्य और नैमित्तिक का अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य और निषिद्ध कर्मो से निवृत्ति परन्तु प्रायश्चित तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मो में प्रवृत्ति मोक्ष की साहिका है।

उपासनाकाण्ड—वेद मन्त्रों में बतलायी हुई लवलीनता अर्थात् मन की वृत्तियों को सव ओर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने की शिक्षा का नाम उपासना है।

ज्ञानकाण्ड—इसी प्रकार वेद मन्त्रों में जहाँ-जहाँ आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है, उसकों ज्ञान काण्ड कहते हैं। मन्त्रों के कर्म काण्ड का विस्तार पूर्वक वर्णन मुख्यतया ब्राह्मण ग्रन्थों में, ज्ञान काण्ड का आरण्यकों तथा उपनिषदों में और उपासना काण्ड का दोनों में किया गया है।

मीमांसा-इन तीनों काण्डों के वेदार्थ विषयक विचारको मीमांसा कहते हैं। मीमांसा शब्द 'मान ज्ञाने' से जिज्ञासा अर्थ में 'माने जिज्ञासामाम्' वार्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड और उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड पर विचार किया गया है।

उपासना दोनों में सम्मिलित है। इस प्रकार के दोनों दर्शन वास्तव में एक ही ग्रन्थ के दो भाग कहे जा सकते हैं। पूर्व मीमांसा श्री व्यासदेव के शिष्य जैमिनी मुनि ने प्रवृत्त मार्गी ग्रहस्थों तथा कर्म-काण्डियों के लिए बनायी है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमांसादर्शन है। इसको जैमिनि दर्शन भी कहते हैं। इसके बारह अध्याय हैं, जो मुख्यतया कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। उत्तरमीमांसा निवृत्ति मार्ग वाले ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिये श्री व्यास महाराज ने

स्वयं रचा है। वेदों के कर्मकाण्ड-प्रतिपादक वाक्यों में जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक अविरोध को दिखलाने के लिए पूर्व मीमांसा की और वेद के ज्ञानकाण्ड में समन्वय साधन और अविरोध की स्थापना के लिए उत्तर मीमांसा की रचना की गयी है। इस कारण इन दोनों दर्शनों में शब्द प्रमाण को ही प्रधानता दी गयी है। दोनों दार्शनिक लगभग समकालीन हुए हैं। इसलिए श्री मैमिनिका भी वही समय लेना चाहिये जो उत्तर मीमांसा के प्रकरण में श्री वेद व्यास जी महाराज के बतलाया जायगा।

पूर्व मीमांसाः–मीमांसा प्रथम सूत्र है 'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा करते हैं।

मीमांसा के अनुसार धर्म की व्याख्या वेदविहिन, शिष्टों से आचरण किये हुए कर्मों में अपना जीवन ढालना है। इसमें सब कर्मों को यज्ञों तथा महायज्ञों के अन्तर्गत कर दिया गया है। भगवान मनु ने भी ऐसा ही कहा है—महायज्ञैश्र्च यज्ञैश्र्च ब्राहीयं क्रियते तनुः' महायज्ञों तथा यज्ञों के द्वारा ब्राह्मण शरीर बनता है पूर्णिमा तथा अमावस्या में जो छोटी-छोटी इष्टियां की जाती हैं, इनका नाम यज्ञ अश्वमेघादि यज्ञों का नाम महायज्ञ है। (1) ब्रह्म यज्ञ—प्रातः और सांयकाल की संध्या तथा स्वाध्याय (2) देवयज्ञ—प्रातः तथा सायंकाल का हवन। (3) पितृयज्ञ-देव तथा पितरों की पूजा अर्थात् माता, पिता, गुरु आदि की सेवा तथा उनके प्रति श्रद्धा भक्ति। (4) बलिवैश्वदेव यज्ञ पकाये हुए अन्न में से अन्य प्राणियों के लिए निकालना (5) अतिथियज्ञ—घर पर आये हुए अतिथियों का सत्कार।—

वेद के पाँच प्रकार के विषय हैं—(1) विधि, (2) मन्त्र, (3) नामधेय, (4) निषेध और (5) अर्थवाद। स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे' इस प्रकार के वाक्यों को 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थ-स्मारक वचनों को मन्त्र के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम की 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थ के सच्चे गुणों

के कथन को अर्थवाद कहते हैं। इन पाँच विषयों के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधि वाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अङ्गभूत है तथा पुरूषों को अनुष्ठान के लिए उत्सुक बना कर विधि वाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। विधि चार प्रकार की होती है-कर्म का स्वरूप मात्र को बतलाने वाली विधि 'उत्पत्ति-विधि' है। अङ्ग तथा प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध बोधक विधि को 'विनियोग विधि', कर्म से उत्पन्न फल के स्वामित्व को कहने वाली विधि को 'अधिकार विधी' तथा प्रयोग के प्राशुभाव (शीघ्रता) के बोधक विधि को 'प्रयोग विधि' कहते हैं। विहयर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिङ्ग वाक्य प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षंट् प्रमाण होते हैं। जैमिनि मुनि के मतानुसार यज्ञों से ही स्वर्ग अर्थात ब्रहम की प्राप्ति होती है। 'स्वर्ग कामो यजेत' स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे। यज्ञ के विषय में श्रीमदभगवद्गीता में ऐसा वर्णन किया गया है–

यज्ञार्थात्कर्मणाऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कैन्तेय मुक्तसङ्ग समाचार।[425]

यज्ञ के लिए जो कर्म किये जाते हैं, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ किये जाने वाले कर्म (भी) तू आसक्ति अथवा फलाशा छोड़ कर करता जा।

उत्तरमीमांसाः–उत्तरमीमांसा को ब्रह्मसूत्र, शारीरिक सूत्र, ब्रह्ममीमांसा तथा वेद का अन्तिम तात्पर्य बतलाने से वेदान्त दर्शन और वेदान्तमीमांसा भी कहते हैं। इस दर्शन के चार सोपान है और प्रत्येक सोपान चार पदों में विभक्त है।

(1) पहले सोपान का नाम समन्वय है; क्योंकि इनमें वेदान्त वाक्यों का एक मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में दिखाया गया है, क्योंकि इसमें सारे वेदान्तवाक्यों का एक मुख्य तात्पर्य ब्रह्म में दिखाया गया है। इसके पहले पाद में उन वाक्यों पर विचार है, जिनमें ब्रह्म का चिन्ह

सर्वज्ञतादि स्पष्ट हैं। दूसरे में उन पर विचार है, जिनमें ब्रह्म का चिन्ह स्पष्ट है और तात्पर्य उपासना में है। तीसरे में उनपर विचार है, जिनमें ब्रह्म का चिन्ह स्पष्ट है, और तात्पर्य ज्ञान में है। चौथे में संदिग्ध पदों पर विचार है।

(2) दूसरे सोपान का नाम अविरोध है, क्योंकि इसमें इस दर्शन के विषय का तर्क से श्रुतियों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है। इसके पहले पाद में इस दर्शन के विषय का स्मृति और तर्क से अविरोध; दूसरे में विरोधी तर्कों के दोष; तीसरे में पंच महाभूत के वाक्यों का परस्पर अविरोध, और चौथे में लिङ्ग शरीर-विषयक वाक्यों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है।

(3) तीसरे सोपान का नाम साधन है; क्योंकि इसमें विद्या के साधनों का निर्णय किया गया है। इसके पहले पाद में मुक्ति से नीचे के फलों में त्रुटि दिखलाकर उनसे वैराग्य; दूसरे में जीव और ईश्वर में भेद दिखलाकर ईश्वर को जीव के लिए फलदाता होना; तीसरे में उपासना का स्वरूप और चौथे पाद में ब्रह्मदर्शन के बहिरंङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनों का वर्णन है।

(4) चौथे सोपान में विद्या के फल का निर्णय दिखलाया है। इसके पहले पाद में जीवनमुक्ति, दूसरे में मृत्यु; तीसरे में उत्तरगति और चौथे में ब्रह्मप्राप्ति और ब्रहमलोक का वर्णन है।

अधिकरण-पादों में जिन-जिन अवान्तर विषयों पर विचार किया गया है उनका नाम अधिकरण है।

अधिकरणों के विषय में अधिकरणों में निम्नलिखित विषयों पर विचार किया गया है—

1. ईश्वर 2. प्रकृति, 3. जीवात्मा, 4. पुनर्जन्म, 5. मरने के पीछे की अवस्थाएँ, 6. कर्म, 7. उपासना, 8. ज्ञान, 9. बन्ध, 10. मोक्ष।

ब्रह्मसूत्र में व्यास देव जी ने जहाँ दूसरे आचार्यो के मत को दिखलाकर अपना सिद्धान्त बतलाया है, वहाँ अपने को बादरायण नाम से बोधन किया है। इस दर्शन के अनुसर—

(1) 'हेय'—त्याज्य जो दुःख है उसका मूल जड़तत्त्व है अर्थात् दुख जड़तत्त्व का धर्म है।

(2) 'हेय हेतु'—त्याज्य जो दुख है उसका कारण अज्ञान अर्थात् जडतत्व में आत्मतत्व का अध्यास अर्थात् जड़तत्व को भूल से चेतन तत्व मान लेता है। चारों अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रियों तथा शरीर में अहंमभाव और उनके विषय में ममत्व पैदा कर लेना ही दुःखों में फाँसना है

(3) 'हान'—दुख के नितान्त आभाव की अवस्था 'स्वरूप स्थिति अर्थात् जडत्व से अपने को सर्वथा भिन्न करके निर्विकार निर्लेप शुद्ध परमात्मा स्वरूप में अवस्थित होना है।

(4) 'हानोपाय'—स्वरूप-स्थिति का उपाय परमात्मतत्व का ज्ञान है, जहाँ दुःख अज्ञान, भ्रम आदि लेशमात्र भी नहीं है, और जो पूर्ण ज्ञान और शक्ति का भण्डार है।

वेदान्तदर्शन का प्रथम सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[426]

अब ब्रह्म के विषय में विचार आरम्भ होता है।

दूसरा सूत्र है—

जन्माद्यस्य यतः[427]

इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिससे होती है अर्थात जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण है, वह ब्रह्म है'। जैसा की श्रुति कहती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जतानि जीवन्ति। यत्त्ररयन्त्यभिस्मं विशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म ॥[428]

जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीते हैं और मरते है और मर कर जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह सत्य ब्रह्म है'।

वेदान्त दर्शन का तीसरा सूत्र है–

'शास्त्रयोनित्वात्'[429]

ब्रह्म 'शास्त्रप्रमाणक है'। ब्रह्म इन्द्रियों की पहुँच से परे है इसलिए वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अनुमान भी उसकी झलक मात्र देता है। पर शास्त्र उसका दिव्य स्वरूप दर्शाता है, जिससे अनुमान इधर ही रह जाता है अतएव कहा है।

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः। नवेदविन्मनु ते तं बृहन्तम्'[430]

'जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता जो वेद को नहीं जानता है।'

वेदान्त दर्शन का चौथा सूत्र है–

'तत्तु समन्वयात्'[431]

'वह ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणक होना एक तात्पर्य से है।' सारे शास्त्र का एक तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में है, अतएव कहा है-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'[432] 'सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं।' इसलिए श्रुति का तात्पर्य एक ब्रह्म के प्रतिपादन में है, कहीं शुद्ध स्वरूप से, कहीं शबलस्वरूप अथवा उपलक्षण से। वेदान्त दर्शन के ये चारों सूत्र वेदान्त की चतुःसूत्री कहलाते हैं। इनमें सामान्य रूप से वेदान्त का विचार कर दिया है, विशेष रूप से आगे किया है।

चेतनतत्व का शुद्ध स्वरूप–

तदव्यक्तमाह हि ।[433]

'मूर्त-अमूर्त से परे ब्रह्म का अव्यक्त शुद्धस्वरूप है।' जैसा की श्रुति कहती है–

शुद्धमपापविद्धम् ।[434]

'वह शुद्ध और पाप से न बींधा हुआ है'

शुद्ध चेतन-तत्व ज्ञान वाला नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप है–

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।[435]

'(शुद्ध) ब्रह्म, सत्य ज्ञान और अनन्त है।'

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः ।[436]

'वह शुभ्र ज्योतियों का ज्योति है।'

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप प्रायः नेति-नेति निषेधमुख शब्दों से वर्णन किया गया है, क्योंकि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभव से ही जानी जा सकती है, उपदेश केवल यही हो सकता है कि ज्ञात वस्तुओं से उसका पर होना जँचा दिया जाय, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य देवी गार्गी को उपेदश किया है–

न्याय और वैशेषिक दर्शनः–विजय पुरी के धार्मिक मठ में 'द्रव्य गुण कर्म, सामान्य विशेष, समवाय पर्दार्थो के स्वरूप निरूपण में अवस्थित भिन्न गुण एवं अवयवों का निरूपण करने वाला वैशेषिक दर्शन पढाया जा रहा था।[437]

उपर्युक्त सन्दर्भ में इस दर्शन के सातवें 'अभाव' पदार्थ का उल्लेख न करने से यह कल्पना की जा सकती है कि कणादप्रणीत 'वैशेषिक सूत्र इस समय पाठ्य ग्रन्थ रहा होगा।

जिसमें छह पदार्थो का ही उल्लेख है और सूत्र में आये 'च' शब्द के आधार पर बाद में अभाव नाम साँतवें पदार्थ का माना गया है।

एक प्रसंग में उद्द्योतन सूरि ने कणाद का भी उल्लेख अन्य आचार्यो के साथ किया है।[438] कणाद वैशेषिक दर्शन के प्रमुख आचार्य थे। वैशेषिक सूत्र भाष्य के अन्त में भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सूत्रकार कणाद की वन्दना की है, कहा है कि उन्होंने (काणाउ) योग और आचार से महेश्वर को प्रसन्न करके वैशेषिक-शास्त्र की रचना की थी। योग और आचार पशुपत या शैव सम्प्रदाय के भी अनुयायी रहे होंगे। आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी कणाद के दर्शन को शैव धर्म का प्रचारक कहा है।[439]

मठ के छठवें व्याख्यान-मण्डप में प्रमाण, प्रमेय, संशय, निर्णय छल जाति निग्रहवादी नैयायिकों का दर्शन छात्रों को पढ़या जा रहा था।[440] न्याय-दर्शन सोलह पर्दाथ स्वीकार करता है। गौतम प्रणीत न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र इन सोलह पदार्थो का नाम निर्देश करता है।[441] उद्द्योतन सूरि ने उन सोलह पदार्थो में से प्रारम्भ में तीन, मध्य का एक (निर्णय) तथा अन्त में तीन पदार्थो का समास में निर्देश करते हुए अपने समय में न्यायसूत्र का पढ़ाया जाना व्यंजित किया है । कुवलयमाला में अन्यत्र न्याय-दर्शन के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और कोई जानकारी नही दी हुई है ।

कणाद मुनिप्रवर्तित वैशेषिक दर्शन और गौतम मुनिप्रवर्तित न्याय दर्शन के सिद्धान्त एक जैसे हैं। न्याय दर्शन एक प्रकार से वैशेषिक सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या है या यो कहिये कि ये दोनो एक ही हैं जिसका पूर्वांग वैशेषिक है और उत्तराग न्याय इन दोनों दर्शनकारों का ठीक समय निश्चय करना अति कठिन है किन्तु सिद्ध है कि ये दोनों भगवान कपिल और पतंजलि मुनि के पीछे हुए है; क्यों कि इन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थो के वास्तविक स्वरूप जानने के लिए योग का ही सहारा लिया है और व्यास तथा जैमिनि से पूर्वकाल में हुए हैं; क्यों कि

ब्रम्हासूत्र में उनके सिद्धान्तों का वर्णन आया है। इन दोनों में कणाद गौतम से पहले हुए हैं, क्यों कि वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन की अपेक्षा अधिक प्राचीन समय का है।

वैशेषिक सूत्रों की संख्या तीन सौ सत्तर है, जो दस अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय मे दो आन्हिक में हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आन्हिक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण तथा विभाग का और दूसरे में 'सामान्य' का दूसरे तथा तीसरे अध्याय में नौ द्रव्यों का, चौथे अध्याय के प्रथम आहिक में परमाणु वाद का तथा द्वितीय में अनित्म द्रव्य विभाग का, पाँचमें अध्याय में कर्मका, छठे अध्याय में वेद प्रमाण्य के विचार के बाद धर्म-अधर्म का, सातवें तथा आठवें अध्याय में कतिपय गुणों का , नवें अध्याय में आभाव तथा ज्ञान का और दसवें में सुख-दुख विभेद तथा विविध कारणों का वर्णन किया गया है।

वैशेषिक का अर्थ है पदार्थो के भेदों का बोधक।

पदार्थ जो प्रतिति से सिद्ध हो उसे कहतें है।

वैशेषिक दर्शन में हेय, हेय-हेतु, हान, और हानोपाय-इन चारों प्रतिपाद्य विषयों के समझने के लिए छः पदार्थ 1-द्रव्य, 2-गुण, 3-कर्म, 4-सामान्य, 5-विशेष और 6-समवायका का निरुपण किया गया है तथा उसके सामान्य धर्म और विशेष धर्म के तत्व ज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष बतलाया गया है। यथा-**धर्म विशेषप्रसूताद् द्रव्यगुण कर्म सामान्य विशेषमवायाना पदार्थानां साधर्म्य वैधर्क्याम्यां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसम्।**[442]

7 धर्म विशेष से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य विशेष औ समवाय (इतने) पदार्थो का साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्वज्ञान, उससे मोक्ष होता है।'

इन पदार्थो में केवल धर्मी तो द्रव्य है, अन्य पाँच पदार्थ धर्म हैं। अर्थात गुण और कर्म द्रव्य के धर्म हैं। सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म तीनों के धर्म हैं। और समवाय पाँचो का धर्म है। इन छः में से पहले तीन द्रव्य गुण और कर्म मुख्य पदार्थ है; क्योंकि इन्ही से अर्थ-क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है, और यही धर्म अधर्म के निमित्त होते हैं। शेष तीन

उपपदार्थ है; क्यो कि उनसे कोई अर्थ-क्रिया सिद्ध नहीं होती है वे केवल शब्दव्यवहार के ही उपयोगी है।

द्रव्य नौ हैं-**पृथिव्यापस्तेजोवायुशकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।**[143] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन-ये नौ द्रव्य हैं। गुण चौबीस हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथ्क्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

न्याय दर्शनः—न्याय सूत्र के रचयिता का नाम गौतम या गोतम है और व्यक्ति नाम अक्षवाद है। प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण अर्थात विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तुतत्व की परीक्षा न्याय है।

प्रत्यक्ष और आगम के आश्रित अनुमान (न्याय) है। अनुमान में परीक्षा करके अर्थ की सिद्धि की जाती है। परीक्षा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से होती है जैसे अग्नि की सिद्धि में जब यह प्रतिज्ञा की कि 'पर्वत में अग्नि है' तो यह शब्द प्रमाण हुआ, जब रसोई का उदाहरण दिया तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ; जब जैसे रसोई धूमवाली है वैसे यह पर्वत धूमवाला है ऐसा उपनयन कहा, तो यह उपनाम हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, उपनाम और शब्द, इन सब प्रमाणों से परीक्षा करके अग्निकी सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के व्यापार से परीक्षा करके अग्नि सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के व्यापार से अर्थ का निश्चय करना न्याय है।

न्यायसूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोड़श पदार्थों के उद्देश्य (नाम कथन) तथा लक्षण (परिभाषा) परीक्षण किये गये हैं।

प्रमाणप्रमेयसंयूमप्रयोजनदृष्टाः तसिद्धान्ताव्यवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा, हेत्वामास छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः [144]

'प्रमाण, प्रमेय, संयम, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव तक निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रहस्थान, इनके तत्वज्ञान से मोक्ष मिलता है और प्रमाण आदि पदार्थ उस तत्व ज्ञान के साधन हैं।

यर्थात ज्ञान का साधन प्रमाण है, जानने वाला प्रमाता, ज्ञान प्रमिति और जिस वस्तु को जानता है वह प्रमेय कहलाती है।

न्याय दर्शन के अनुसार चार मुख्य प्रमाण हैं- 1 प्रत्यक्ष, 2 अनुमान, 3 उपमान 4 आगम। 1 प्रत्यक्ष प्रमाण-इंन्द्रियों और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जो अशब्द (नाममात्र से न कहा हुआ), अव्यभिचारी (न बदलने वाला) और निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-निर्विकल्पक और सविकल्प। वस्तु का आलोचनमात्र ज्ञान, जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, निर्विकल्प है; और जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह सविकल्प है। निर्विकल्प पहले होता है और सविकल्प पीछे। जैसे गौको देखकर 'गौ' यह ज्ञान पहले-पहल नहीं होता; क्योंकि 'गौ' इस ज्ञान में केवल व्यक्ति का ज्ञान नही, किंतु एक विशेष व्यक्ति, एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखने वाली प्रतीत हो रही है। इस सम्बन्ध का ज्ञान संम्बन्धियों को पहले-पहल अलग जाने बिना नहीं होता क्यों कि 'गौ' इस ज्ञान में केवल व्यक्ति का ज्ञान नहीं, किंतु एक विशेष व्यक्ति, एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखने वाली प्रतीत हो रही है। इससे अनुमान होता है कि पहले दोनों सम्बन्धियों (जाति, व्यक्ति) का सम्बंन्ध रहित ज्ञान अलग-अलग हुआ है, पीछे 'यह गौ है' यह ज्ञान हुआ है। इनमें से पहला निर्विकल्प है; पीछे जो सम्बन्ध को प्रकट करने वाला ज्ञान हुआ है, वह सविकल्प है। निर्विकल्पक कहने में नही आता है।

2. अनुमान प्रमाण—साधन-साध्य, लिगं लिगीं अथवा कार्य कारण के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं। जहाँ 'व्याप्ति' अर्थात साहचर्य (साथ रहने) का नियम

पाया जाता है। वहीं अनुमान होता है। धूम अग्नि के बिना नहीं होता, इसलिये धूम मे अग्नि का अनुमान होता है; पर अग्नि बिना धूम के भी होती है. इसलिये अग्नि मे धूम का अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं उसको लिंगी कहते हैं। इस प्रकार धूम लिङ्गी है और अग्नि लिङ्गी। लिङ्गी वह होता है जो व्यापक हो। जहाँ धूम है वहाँ, अग्नि अवश्य है, धूम में अग्नि की व्यापकता है, ऐसा होने से ही अनुमान हो सकता है। यदि बिना अग्नि के धूम होता तो उससे अग्नि का अनुमान न होता। जैसे अग्नि बिना धूम के भी होती है अतएवं अग्नि से धूम अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ व्याप्ति है वहीं अनुमान होता है। सम-व्याप्ति हो चाहे विषम-व्याप्ति हो। सम व्याप्ति, जैसे गन्ध और प्रथिवीत्व की है। जहाँ गन्ध व गन्ध है वहीं पृथिवीत्व है और जहाँ पृथ्वीत्व है वहीं गन्ध है। और विषम-व्याप्ति, जैसे अग्नि और धूमकी है; क्यों कि जहाँ धूम है वहां अग्नि है यह नियम है पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम भी हो यह नियम नहीं है।

योग-दर्शनः–जैन कथा-साहित्य में योग-दर्शन का उल्लेख प्राप्त होता है-'आत्मा सर्वगत है, जिसे प्रकृति नही बाँध सकती तथा योगाभ्यास से मुक्ति पाकर व्यक्ति निरंजन होता है। [445] इस सिद्धान्त को मानने वाले आचार्य का नाम कुवलयमाला में नही दिया है। विचारधारा के आधार पर प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध भी योग से प्रभावित दर्शन से रहा होगा, जो सांख्य की ही एक शाखा है। त्रिदण्डियों के मत से कुछ भिन्नता होने के कारण ये अपने को योगाभ्यासी कहते रहे होंगे। पाँच यम पाँच नियम ये दस परिव्राजक धर्म सांख्य दर्शन के साधु भी मानते तथा इसका उपदेश देते थे। राजा दढ़वर्मन ने इस मत के आचार्य का धर्म इसलिए स्वीकार नहीं किया क्यों कि उसे सर्वगत आत्मा होने पर योगाभ्यास विपरित प्रतीत होता है।[446]

योग के आदि आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। हिरण्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय लुप्त हैं) पतंजलि योगदर्शन का निर्माण किया है।

योग दर्शन के चार पाद हैं और 195 सूत्र हैं। समाधिपाद में 51 साधन पाद में 55, विभूतिपाद में 55 और केवल्यपाद में 34।

समाधिपाद–जिस प्रकार एक निपुण क्षेत्रज्ञ सर्व प्रथम सबसे अधिक उपजाऊ भूमि को तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज होता है, इसी प्रकार श्रीपतंजलि महाराजने समाहित चित्तवाले सबसे उत्तम अधिकारियों के लिए सबसे प्रथम समाधिपाद को आरम्भ करके उसमें विस्तारपूर्वक योग के स्वरूप को वर्णन किया है।

सारा समाधिपाद एक प्रकार से निम्न तीन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या है।

योगश्चितवृतिनिरोधः ॥ 2 ॥ [447]

योगचित की वृत्तियों को रोकना है।

तदाद्रष्टुः स्वरूपेडवस्थानम् ॥ 3 ॥ [448]

तब (वृत्तियों के निरोध होने पर) द्रष्टा का स्वरूप में अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ 4 ॥ [449]

दूसरी (स्वरुपावस्थिति से अतिरिक्त) अवस्था में द्रष्टा वृत्ति के समान रुपवाला प्रतीत होता है। चित्त, बुद्धि, मन अन्तः करण लगभग पर्यायवाचक समानार्थक शब्द हैं, जिनका भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने अपनी-अपनी परिभाषा में प्रयोग किया है। मन की चंचलता प्रसिद्ध है। सृष्टि के सारे कार्यो में मन की स्थिरता ही सफलता का कारण होती है सृष्टि के सारे महान् पुरुषों की अद्भुत शक्तियों में उनके मन की एकाग्रता का रहस्य छिपा हुआ होता है। नैपोलियन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह इतना एकाग्रचित था कि रणभूमि में भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था, किंन्तु, ये सब एकाग्रता के बाहय रूप हैं।

योग के अन्तर्गत मन को दो प्रकार से रोकना है एक तो केवल एक विषय में लगातार इस प्रकार लगाये रखना कि दूसरा विचार न आने पावे, इसको एकाग्रता अथवा सम्प्रज्ञात

समाधि कहते हैं। इसके चार भेद हैं। (9) विर्तक-किसी सपूल विषय में चित्त वृत्ति की एकाग्रता।

(2) विचार-किसी सूक्षम विषयों में चित्तवृत्ति की एकाग्रता।

(3) आनन्द-अहंकार विषय में चित्तवृत्ति की एकाग्रता

(4) अस्मिता-अहंकार रहित अस्मिता विषय में चित्तवृत्ति की एकाग्रता।

इसकी सबसे ऊंची अवस्था विवेकख्याति है, जिसमें चित्त का आत्माध्यास छूट जाता है और उसके द्वारा आत्मस्वरूप का उससे पृथ्करूप में साक्षात्कार होता है, किंतु योगदर्शन इसको वास्तविक आत्मस्थिति नहीं बतलाता है। यह भी चित्त ही की एक वृत्ति अथवा मन का ही एक विषय है किंतु इसका निरन्तर अभ्यास वास्तविक स्वरूपावस्थिति में सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेक ख्याति भी चित्त ही की एक उच्चतम सात्विक वृत्ति है। इसको 'नेति-नेति, (यह वास्तविक स्वरुपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नही है इत्यादि परम वैराग्य द्वारा हटाना मत का दूसरी प्रकार से रोकना है इसके भी हट जाने पर चित कोई भी वृत्ति न रहना अथवा मनका किसी विषय की ओर न जाना, सर्ववृत्ति-निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या योग दर्शन में यथास्थान में उपलब्ध है निरोध अपने स्वरूप का सर्वथा नाश हो जाना नहीं है, किंतु जड़-तत्व के अविवेकपूर्ण संयोग के चेतन तत्व से सर्वथा नाश हो जाना है। इस संयोग के न रहने पर द्रष्टा की शुद्ध परमात्मा स्वरूप में अवस्थिति होती है। इसको तीसरे सूत्र में बतलाया गया है। 'स्वरूपास्थिति' इतना व्यापक शब्द है कि सोर सम्प्रदाय और मतान्तर वाले इसके अपने अभिमत अर्थ ले सकते हैं, किंतु योग क्रियात्मक रूप से अंतिम लक्षय में पहुंचाकर यर्थाथ स्वरूप अनुभव कराकर शब्दों के वाद-विवाद में नही पड़ता है। 'स्वरूपावस्थिति' के अतिरिक्त भिन्न अवस्थाओं में यद्यपि द्रष्टा के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन, नहीं होता है, तथापि जैसी चित्त की वृति सुख-दुख और मोहरूप होती है, वैसा ही

दृष्टा भी प्रतीत होता है, जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के हिलने से चलायमान और स्थिर होने से शान्त प्रतीत होता है।

ब्रम्हासूत्र तथा सांख्य सूत्र के सदृश योगदर्शन के भी प्रथम चार सूत्र योग दर्शन की चतु:सूत्री हैं, जिनमें सारा योग दर्शन सामान्य रूप से बतला दिया है। शेष सब सूत्र इन्हीं की विशेष व्याख्यारुप हैं। 2 साहानपाद दूसरे पाद में विक्षिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारियों के लिए योग का साधन बतलाया गया हैं।

सर्वबन्धनों और दु:खों के मूल कारण पाँच क्लेश है-अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश।

अविद्या-अनित्य में नित्य, अशुद्ध में शुद्ध, दु:ख में सुख, अनात्मा में आत्मा समझना अविद्या है। इस अविद्यारूपी क्षेत्र में ही अन्य चारो क्लेश उत्पन्न होते हैं।

अस्मिता-इस अविद्या के कारण जड़ चित्त और चेतन पुरुष चिति में भेद ज्ञान नही रहता। यह अविद्या से उत्पन्न हुआ चित्त और चिति में अविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है।

राग-चित्त और चिति मे विवेक न रहने से जडतत्व मे सुख की वासना उत्पन्न होती है। अस्मिता क्लेश से उत्पन्न हुई चित्त में सुख की इस वासना का नाम राग है।

द्वेष इस राग से सुख में विघ्न पड़ने पर दु:ख के संस्कार उत्पन्न होते हैं। राग से उत्पन्न हुए दु:ख के संस्कारो का नाम द्वेष है।

अभिनिवेश दु:ख पाने के भय से भौतिक शरीर को बचाये रखने की वासना उत्पन्न होती है: इसका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

क्लेशों से कर्मकी वासना उत्पन्न होती हैं। कर्म वासनाओं से जन्मरूपी वृक्ष उत्पन्न होते हैं।

उस वृक्ष में जाति, आयु भोगरूपी तीन प्रकार के फल लगते हैं। इन तीनों फलों में सुख दुःख रूपी दो प्रकार का स्वाद होता है।

जो पुष्प कर्म अर्थात हिंसा रहित दूसरे के कल्याणाथ कर्म किये जाते हैं; उनसे जाति आयु और भोग में सुख मिलता है, और जो पापकर्म अर्थात् हिंसात्मक दूसरों को दुःख पहुंचाने के लिए कर्म किये जाते हैं, उनसे जाति आयु और भोग में दुःख पहुँचता है।

किंतु यह सुख भी तत्व वेत्ता की दृष्टि में दुःख रूप ही है; क्यों कि विषयों में परिणाम, दुःख तप दुःख और संस्कार दुःख मिला हुआ होता है; और तीनो गुणों के सदा अस्थिर रहने के कारण उनकी सुख दुःख और मोहरूपी वृतियाँ भी बदलती रहती हैं। इसलिये सुख के पीछे दुःख का होना आवश्यक है।

इस प्रकार चित्त को एक ऐसा दर्पण समझना चाहिये, जिसमे सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो और अन्य विषयों का प्रतिबिम्ब आ रहा हो। उस शका के निवरणार्थ कि जब चित्त से ही सब व्यवहार चल रहे है और उसी में सब वासनाएँ रहती हैं तो दृष्टा प्रमाण शून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध हो जायेगा।

समाधि द्वारा जब योगी को पुरूष और चित्त के भेद का सक्षात्कार हो जाता है, तब उसकी आत्मभाव भावना कि मैं कौन हूँ, किया हूँ, कैसा हूँ—इत्यादि निवृत्त हो जाती है। अव इस पाद के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का स्वरूप बतलाये है।

पुरूषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति [450] ॥

34 ॥

पुरूषार्थ से शुन्य हुए गुणों को अपने कारण मे लीन हो जाना; अथवा चिति-शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

गुणों की प्रवृत्ति पुरूष के भोग और अपवर्ग के लिये है, जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, जब उस पुरूष के प्रति उसका कर्तव्य शेष नही रहता। इसीलिये वे अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुरूष का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के पश्चात् गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है। अथवा यो समझना चाहिये कि धर्मी चित्त के परिणाम-क्रम बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने पर चिति-शक्ति (पुरूष) का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर (शुद्ध परमात्मा) स्वरूप में अवस्थित हो जाने का नाम कैवल्य है।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. *भगवद्गीता* अध्याय 17 श्लोक 3, 4 ।
2. यक्षों पर द्रष्टव्य कुमार स्वामी-यक्षज 2 भाग ।
3. *ओरिजन्स ऑव बुद्धिज्म,* पृ. 318-19 ।
4. एस. बी. ई. जि. 22, भूमिका, तु. मैक्समूलर हर्बर्ट पृ. ३५१ बूलर, *बौधायन-धर्मसूत्र* (एस. बी. ई. मे अनु.) लेक्चर्स ।
5. जैकोबी : *जैन सूत्रास* (सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट)
6. तत्रैव, पृ. 122, टिप्पणी ।
7. हापकिन्स : *रिलीजन्स ऑव इण्डिया* पृ. 283 ।
8. निगण्ठों पर द्रष्टव्य *ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म,* पृ. 353-68; *कैंब्रिज, हिस्टरी* जि. 1; शापन्तियर, *उत्तराध्ययन,* भूमिका; याकोबी, एस. बी. ई. जि. 22 और 45, भूमिका, *जैनी आउट लाइन्स आव जैनिज्म,* ग्लाजेनाप, *दि डाक्ट्रिन ऑव बुद्धिज्म,* पृ. 567-73; विन्टरनित्स, *हिस्टरी आव इण्डियन लिटरेचर* जिल्द 2 पृ. 424 प्रा. ।
9. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख) के अनुसार केवल पॉच तित्थयार विदेह, भरह और इरावया मे अवसर्पिणी औ उत्सर्पिणी के दशांश में भरह और इरवय में चौबीस और विदेह में चार और चौतीस ।
10. *भगवद् गीता* अ. 4 श्लोक 7 और 8)
11. *समराइच्चकहा,* पृ. 160
12. *भगवद्गीता,* अ. 3 श्लोक 27, 28 ।
13. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख), 185 ।
14. तत्रैव, 184—महान शब्द की व्युत्पत्ति 'मा', 'हन' से हुइ है जिसका अर्थ है हिंसा मत करो 'मा' नहीं, हन-हिंसा ।
15. तत्रैव, 184 ।
16. तत्रैव, 24 ।
17. तत्रैव, 4 ।
18. तत्रैव, 326 ।
19. तत्रैव, 12 ।
20. तत्रैव, 294-97—कहानी हिंसा, असत्य भाषण, एक दूसरे की पत्नी या पति की इच्छा करना और किसी दान को अनुचित ढंग से स्वीकार करना आदि के दुष्परिणामों को बतलाती है ।

21. तत्रैव, 39।

22. तत्रैव, 294।

23. तत्रैव, 337-38।

24. तत्रैव, 339।

25. तत्रैव, 173।

26. तत्रैव, 336–यह उपवास चौदह वर्ष तीन मास और बीस दिनों का होना था।

27. तत्रैव, 184, 236–(1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) पोसधोपवास (5) सच्चा त्याग (6) रात्रि भोजन त्याग (7) ब्रह्मचर्य।

28. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख.) 52।

29. तत्रैव, 304।

30. तत्रैव, 133।

31. तत्रैव 23, 12, 140।

32. *वासुदेव हिण्डी* (द्वि. ख.) II 121 ए।

33. तत्रैव, II 120 ए. बी. विद्याधर ने एक बड़ी झील की पूजा करते समय धूप, पुष्प और बलि अर्पित किया।

34. तत्रैव, II. 120 ए।

35. तत्रैव, II. 148 ए।

36. तत्रैव, II. 174 ए।

37. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख.), 14।

38. तत्रैव, 30।

39. तत्रैव, 192-93।

40. तत्रैव, 337।

41. तत्रैव, 125, 273।

42. तत्रैव, 288।

43. तत्रैव, 4–जम्बू वंश की किसी भी राजकुमारी ने पीढ़ियों तक सन्यास नही ग्रहण किय।

44. तत्रैव, 117।

45. तत्रैव 272।

46. तत्रैव, 20-22।

47. तत्रैव, 22।

48. तत्रैव, 343, *वासुदेव हिण्डी* (द्वि. ख.) II. 18 ए।

49. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख.) 3, 22, 288 ।

50. तत्रैव, 183 ।

51. तत्रैव, 114 ।

52. तत्रैव, 144 ।

53. तत्रैव, 129 ।

54. तत्रैव, 3, 74 ।

55. तत्रैव, 16 ।

56. *समराइच्चकहा* 5, पृ. 479; पृ. 917, 948 ।

57. तत्रैव 1, पृ. 47; 2, पृ. 102 ।

58. तत्रैव, 1, पृ. 56; 2. पृ. 127;4, पृ. 246, 343, 350;6 ।

59. तत्रैव, 3, पृ. 281; 7 पृ. 712-13 ।

60. तत्रैव 3, पृ. 222; 5, 487; 6, पृ. 726; 8, पृ. 845

61. तत्रैव, 1, पृ. 68-69; 4, पृ. 298, 353; 5 पृ. 475, 487-886, 6 पृ. 593; 7, पृ. 618, 629, 694-95; 8 पृ. 836; 9, पृ. 936-37

62. मेहता मोहनलाल– *'जैनाचार'*, पृ. 153 ।

63. *समराइच्चकहा* 5, पृ. 485 ।

64. *तत्रैव 6, पृ. 588 ।*

65. *उत्तराध्ययन* 14/7 ।

66. *उत्तराध्ययन* 13/21

67. तत्रैव 14/28

68. *नायाधम्मकहा* 1/24/34

69. *समराइच्चकहा 3*, पृ. 222-23-24

70.तत्रैव 3, पृ. 200 ।

71. *भगवती सूत्र* 9/33/385

73. तत्रैव 13/6/491

74. तत्रैव 9/13/383

75. तत्रैव 11/11/432

76. *समराइच्चकहा* 3, पृ. 228; 5 पृ. 473

77. *जैन साहित्य का बृहत इतिहास*, भाग 1, पृ. 230

79. तत्रैव 3 पृ. 228, 5, पृ. 473, 480, 8, पृ. 812-13, 9. पृ. 953

80. शास्त्री कैलाशचन्द्र—जैन धर्म, पृ. 184-195, हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, पृ. 255 से 260, मोहनलाल मेहता, जैनाचार्य, पृ. 86-104

81. *सूत्रकृतांग*, श्रुत 2, अ. 23, सूक्त 3 (—सीलव्वय गुणविरमण पच्चवरवाणे सहोव वासेहि अप्पाग भावे भाणों एव चरण विहरह)

82. *उपासक दशांग* अध्याय 1, सूक्त 12, सक्त 58 (पंचार गुव्वतियं सत्तसिक्खा वइयं दुवालस्म विह गिहिधम्मं....)

83. *समराइच्चकहा* 1 , पृ. 62

84. *उपासक दशांग अध्याय* 1, सूक्त 12, सूक्त 58 (—[illegible]वइय दुवालम्मविह गिहिधम्मं)

85. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 57; हीरालाल जैन भारतीय संस्कृत मे जैन धर्म का योगदान, पृ. 261-62—मोहन लाल मेहता जैनाचार्य—पृ. 61-62

86. मोहनलाल मेहता—जैनाचार पृ. 89 से 124

88. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 66-67, 3 पृ. 196-98, पृ. 585-86

89. *समराइच्चकहा* 2, पृ. 140-41, 4, पृ. 288, 8, पृ. 780 790

90. *जैन हीरालाल—भारती संस्कृति में जैन धर्म का योगदान*, पृ. 261

91. *भगवतीसूत्र* 25/6/802

92. *दशवैकालिक* सूत्र 6/8

93. *उत्तराध्ययन सूत्र* 77/5

94. *समराइच्चकहा* 5, पृ. 411; 7, पृ. 626

95. तत्रैव, 7, पृ. 675 ।

96. तत्रैव 6, पृ. 570; 9, पृ. 937 ।

97. तत्रैव 5, पृ. 497; 6 पृ. 598; 7 पृ. 721 ।

98. तत्रैव 6, पृ. 526, 577, 579 ।

99. तत्रैव 4, पृ. 355-56 ।

100. *समराइच्चकहा* 3 पृ. 226

101. *नायाधम्म कहा*—1/28 ।

102. *बृहत्कल्प* भाष्य—5/4949 ।

103. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 43; 6 पृ. 570; 7 पृ. 623; 8 पृ. 846, 848, 850, 856, 9, पृ. 959 ।

104. तत्रैव 4, पृ. 353; 7, पृ. 727 ।

105. तत्रैव 1, पृ. 48-49।

106. उपधान श्रुत, 1,1।

107. मेहता मोहन लाल—जैनाचार, पृ. 176।

108. *आचारांग* सूत्र 2, 1, 3।

109. *समराइच्च कहा* 6, पृ. 571।

110. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख.) 287।

111. तत्रैव 214।

112. तत्रैव, 129।

113. Deo, op, ciT, P. 158.

114. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. ख.) 231।

115. तत्रैव, 85।

116. तत्रैव 47।

117. *दस वैकालिक,*

5, प, 3-6 *आचारांग* II, 1, 5, 2-4

118. *वासुदेव हिण्डी,* 39।

119. *समराइच्चकहा* 3, पृ. 228; 7 पृ. 675।

120. तत्रैव 4, पृ. 340, 353; 6 पृ. 624।

121. तत्रैव 4, पृ. 356।

122. *आचरांग* 2, 16।

123. मेहता मोहनलाल—जैनाचार, पृ. 165 में उद्धृत।

124. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 103; 5 पृ. 36-665; 6 पृ. 566; 8 पृ. 778।

125. तत्रैव, 2 पृ., 101; 7 पृ. 709-10।

126. तत्रैव 3, पृ. 166-67।

127. तत्रैव, पृ. 201 मे उद्धृत।

128. मेहता मोहन लाल- जैनाचार पृ. 201।

129. *समराइच्चकहा,* 3, पृ. 166-67; 8, पृ. 788-89; 9, पृ. 938।

130. मेहता मोहन लाल-जैनाचार, पृ. 201।

131. *समराइच्चकहा*2, पृ. 118; 7 पृ. 719-20, 726।

132. तत्रैव 7, पृ. 609

133. मेहता मोहल लाल-जैनाचार श्रवकाचार में श्रविका

134. *समराइच्चकहा* 4, पृ. 346-47

135. तत्रैव 2 पृ. 155-56

136. तत्रैव, 7 पृ.613, 630, 712, 8, पृ. 807, 840, 41

137. तत्रैव, 8, पृ. 809-10, 813, 815, 16-17-18-19

138. तत्रैव, 8, 837-38-39

139. मेहता मोहन लाल - जैनाचार, पृ. 206

140. *कुवलयमाला* पृ. 80.15, 16–जोग्गोतुमं पव्वज्जाए, किन्तु अहं ण पव्वावेमि'त्ति- अहं चारण-समणो, ण अहं गच्छ-परिग्गहो ।

141. *कुवलयमाला*, 80,17,

142. तत्रैव, 80, 17,11,22 ।

143. *वासुदेवहिण्डी*, 341 ।

144. तत्रैव, 130 ।

145. *स्थानाङ्ग सूत्र*, 8,654 ।

146. *कुलवयमाला*, 256, 31, 32 ।

147. तत्रैव, 53. 6 ।

148. तत्रैव, 234. 25 ।

149. तत्रैव, 13. 7 ।

150. तत्रैव, 68. 24 ।

151. तत्रैव, 156. 1 ।

152. तत्रैव, 156. 1 ।

153. *वायुपुराण*, 69, 289 एवं ब्रहमाण्डपुराण 3.7, 411,

154. *कुवलयमाला* 28 91

155. *महाभारत* अ. 66 ।

156. मोनियर विलियम डिक्शनरी में उद्धत-किन्नर शब्द

157. के. के. कुमार स्वामी, मेडिवल सिंहलीज आर्ट, पृ. 81 आदि

158. राय, पौ. ध. एवं. पृ. 95-96

159. *ज्ञाता धर्म कथा* 2, पृ. 49 ।

160. ज. जै. आ. सा. भा. स. पृ. 36-37 ।

161. *महाभारत* 7-8

162. [illegible] 8

163. [illegible] आफ [illegible]

164. *वासुदेव हिण्डी* (द्वितीय खं.), [illegible] ।

165. *वासुदेव हिण्डी* (प्र. खं.), [illegible] ।

166. ***समराइच्च कहा*** 3 पृ. 174, 5, पृ. 402; 6, पृ. 519, 547,

167. तत्रैव, 4, पृ. 288, 235- 'अन्न यावच्चचिन्ता समुप्पजईतओ तन्नय रसन्निहियस्य धणदेवभिहाण जक्खस्स महापूयं काऊण कयं उवाइयमणेहि ।

168. मोतीचन्द-'सम ऐस्पेक्ट आफ यक्ष कल्ट इन एन्शियण्ट इन्डिया' पृ. 245 *धूर्ये फेलिसिटेशन वाल्यूम* :

169. कुमार स्वामी यक्षाज, 1, पृ. 4

170. ज. जै. आ. मा., स. पृ. 437-43

171. मोतीचन्द-सम ऐसपेक्ट आफ यक्ष कल्ट इन एन्शियन्ट [illegible] वाल्यम

172. आर. एम. मेहता प्रिबुद्धिस्ट इण्डिया, पृ. 234 ।

173. *आवश्यक चूर्णी, 2, पृ. 227 ।*

174. निशीय चूर्णी 2 पृ. 308; 3, पृ. 416 ।

175. *जम्बूद्वीप प्रज्ञाप्ति सूत्र* 24, पृ. 120 ।

176. *कुवलयमाला,* 14 5 ।

177. तत्रैव, पृ. 447-48

178. तत्रेव, 68 33 ।

179-तत्रैव, 247.31

180. तत्रैव, 248.1, 3,9

181. *हर्षचरित,* सूर्यास्तवर्णन (उ.-8)

182. *समराइच्चकहा,* 6, पृ. 547, 7 पृ. 685, 9, पृ. 882, 960, 932 ।

183. तत्रैव 5, पृ. 451

184. *अंगविज्जा* देवता विजय अध्याय 51. पृ. 204-6

185. वासुदेवशरण अवाल-प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ. 119

186. वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. 275

187. *मानसार* अध्याय, 6 ।

188. आप्टे- संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 275 किम (कु +डिमुवा) बुराई ह्रास, दोश, कलंक और निंदा के भाव प्रकट करने के लिए शब्द के आदि में 'कु' के स्थान पर प्रयुक्त होता है, यथा-किमश्वा, किन्नर: कुरूप या विकृत पुरुष और आदि।

189. *रघुवंश* 4/78, *कुमार संभव* 1/14।

190. *कादम्बरी* अनुच्छेद 124

191. बनर्जी जे. एन. डेवलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइक्नोग्राफी पृ. 353।

192. *समराइच्चकहा* 6, पृ. 447,7 पृ. 685. 9, पृ. 882, 909

193. तत्रैव, पृ. 451

194. *अंगविज्जा*—देवता-विजय अ. 51, पृ. 204-6।

195. अग्रवाल वासुदेवशरण प्राचीन भारतीय लोक धर्म पृ. 119।

196. *समराइच्चकहा* 6, पृ. 601।

197. बनर्जी जे. एन. डवेलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइक्नोग्रफी पृ. 207-8।

198. विद्या प्रकाश-खजुराहो पृ. 141।

199. बनर्जी जे. एन. डेवलपमेन्ट ऑव हिन्दू आइक्नोग्राफी पृ. 519-20

200. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 56, 2 पृ. 107, 109, पृ. 363, 412, 419, 438, 439, 441, 42-43. 448, 453,-54-55-56-463, 6 पृ. 500. 545. 558, 7, पृ. [illegible], 648, 656, 681. 682, 8 पृ. 336-37-749, 780, 9 पृ. 939।

201. तत्रैव 1, पृ. 56

202. तत्रैव 5, पृ. 468-69, 8, पृ. 775

203. तत्रैव 6, पृ. 607

204. तत्रैव 5, पृ. 367, 456, 6, पृ. 558, 7, पृ. 648

205. *अंगविज्जा* देवता विजय- अ. 51-पृ. 204-6।

106. *रघुवंश* 2/60-तस्मिन्क्षणे पालयितु: प्रजानामुत्पश्यत: सिंह निपात मु ग्रम अवागमुख स्योपरि पुष्पवृष्टि: पपात विद्याधर हस्तमुक्ता॥

207. एन. एन. पिंजर —नोट्स आन टानीज ओसन स्टोर 215, पृ. [illegible]

208. तत्रैव 4 पृ. 10।

209. *नोट्स आन टानीज ओसन स्टोरी* 4, पृ. 46।

210. *समराइच्चकहा* 6, पृ. 592, 9 पृ. 737

211. तत्रैव, 1, पृ. 56, 3, पृ. 172, 8 पृ. 787

212. तत्रैव 8 पृ. 737।

213. तत्रैव 8, पृ. 787

214. *निशीथचूर्णी* 1, पृ. 8-9, 40 पृ. 13 ।

215. *दशवैकालिक चूर्णी* पृ. 48 ।

216. *बृहतकल्पमाष्य* 4/4, 9, 6, 3 ।

217. तत्रैव 3/4769 ।

218. *कुवलयमाला* 257.3 ।

219. तत्रैव, 83, 26 ।

220. तत्रैव, 274. 34 ।

221. *समराइच्चकहा* 7, पृ. 681 ।

222. तत्रैव 8, पृ. 786 ।

223. ऋग्वेद 1/3190, 4/95/1, 6/61/2, 6/61/8-10, 10/6418-9 10/75/5

224. सुशीला श्वरे- प्राचीन भारतीय संस्कृति में सरस्वती, पृ. 7

225. तत्रैव पृ. 8

226. *शतपथ ब्राहम्ण* 3/9/1/7

227. *ऐतरेय ब्राम्हण* 3/9/10

228. *समराइच्चकहा* 8, पृ. 713, 714, 9 पृ. 960

229. ऋग्वेद "श्री" 1, 169, 10, 1, 179, 1, 1, 188,6,2, 1, 12, 4,10, 54, 23, 6, 5, 44, 2 *लक्ष्मी* 10, 71, 2

230. तत्रैव 1, 89, 10

231. *तैत्तिरीय संहिता*–7, 5, 4 ।

232. *ऋग्वेद* 1, 89, 10

233. *तैत्तिरीय उपनिषद* 1/4 ।

234. *ऐतरेय ब्राहम्ण* 2, 1, 6 ।

235. *मनु.* 5/120

236. *रामायण* 7, 76, 31 ।

237. तत्रैव 5, 7, 14 ।

238. *महाभारत* 13, 11, 3 ।

139. *दीर्घ निकाय* 1-11

240. धम्म अट्ठकथा 11-17

241. *अंगविज्जा* देवता विजय" अध्याय 51 पृ. 204

242. *रघुवंश* 4/5

243. *मालविकाग्नि मित्रम* 5/30

244. *विषणु महापुराण* 1, 8, 15, 16, 14, 15

245. तत्रैव 1, 8, 23

246. *समराइच्चकहा* 9, पृ. 858

247. तत्रैव, 8, पृ. 731, 742, 765

248. तत्रैव 8, पृ. 731, 742

249. मट्टाचार्य ताशपद कल्ट ऑव ब्रहमा, पृ. 245।

250. तत्रैव, पृ. 102।

251. *ऋग्वेद* 4/53/2

252. तत्रैव, 10/21/1

253. *ऋग्वेद* 2/1/1/3

254. *भगवद गीता* अ. 13, श्लोक 16।

255. *समराइच्चमहा* 7 पृ. 657

256. *ऋग्वेद विण्णु सूक्त*

257. तत्रैव 1/55/6

258. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृ. 394

259. *महाभारत शांतिपर्व* 339/103/4

260. अग्रवाल वासुदेवशरण- प्राचीन भारतीय लोकधर्म पृ. 8-9

261. *ईस्टर्न इण्डियन स्कूल ऑव मेडिवल स्कल्पचर* प्लेट xL III XLIV।

262. *दी कल्चर हेरिटेज ऑव इण्डिया,* 4 पृ. 42

263. तैत्तिरीय अरण्यक 10/1/6 नारायण विदमहे वासुदेवाधि माहि ताव नेः विण्णु प्रचोदयात

264. *दी कल्चरल हेरिटेज ऑव इण्डिया,* 4, पृ. 119

265. *कुवलयमाला* 13. 27

266. तत्रैव 26. 8. 9

267. *रिसर्चर,* 2 पृ. 16

268. *कुवलयमाला* 63.25

269. कुवलय माला 68. 18

270. श. रा. ए., पृ. 377

271. कुवलयमाला 149.15

272. श. रा. ए., पृ. 376

273. समराइच्चकहा 9, पृ. 859-60, 960

274. तत्रैव 9, पृ. 859, 60

275. प्रसाद लालता सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंडिया इन्ट्रोक्सन, पृ. XXIX

276. प्रसाद लालता सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंड़िया, पृ. 189

277. तत्रैव, पृ. 189

278. तत्रैव, पृ. 188

279. तत्रैव, पृ. 188

280. *कार्पस इन्सक्रिप्सन इंडिकेरम,* 3, पृ. 89

281. प्रसाद लालता सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट इंड़िया, पृ. 189

282. हर्षवर्धन का मधुवन ताम्रपत्र इपि. इण्ड 1, पृ. 62

283. *सचाऊ* 1, पृ. 117

284. *इपि. इण्डि. 14, पृ. 178*

285. विद्या प्रकाश खुजराहो, पृ. 140

286. *इपि. इण्डि.* 11, पृ. 55,9 पृ. 1-5 तथा 63

287. तत्रैव 19, पृ. 178

288. तत्रैव 16 पृ. 13

289. *सचाऊ* 1, पृ. 110

290. *राजतरंगिणी* 3, 467, 4, 190,

291. *जर्नल आंव दी एशियाटिक सोसायटी आंव बंगाल न्यू सेरीज,* 16, पृ. 147 प्लेट 2 (सूर्य: समस्त रोगानां हर्ताविश्व प्रकाशक:

292. *समराइच्चकहा* 8, पृ. 758

293. तत्रैव 5, पृ. 364, 65

294. *अथर्ववेद* 11/6/1-23 (पाप मोचन सूक्त), देखिए । अंगविज्जा देवता विजय अध्याय 51 पृ. 204-6

295. अग्रवाल वासुदेवशरण, प्रावीन भारतीय लोक धर्म पृ. 8-2

296. *याज्ञवल्क्य स्मृति* 1/296-98

297. *भागवद्गीता अध्याय* 10, स्लोक-21

298. तत्रैव पृ. 49

299. *समराइच्च कहा* 7, पृ. 638, 8 पृ 757, 9 पृ. 962

300. वदी 8, पृ. 757

301. ऋग्वेद 8/17 /3

302. तत्रैव 8/17/5

303. तत्रैव 10/97/8

304. तत्रैव 10/105/7

305. तत्रैव 1/7/12, 8/55/3

306. मैक्डोनल वैदिक माइथालोजी, पृ. 55

307. ऋग्वेद 8/45/4, 10/103/2-3

308. तत्रैव 8/17/10, अथर्व. 6/82/3

309. अथर्ववेद 8/85/8

310. ऋग्वेद 3/51/8, 5/30/5. 8/45/4

311. तत्रैव 1/6/14

312. *मैक्डोनल वैदिक माइथालोजी* पृ. 54

313. तत्रैव पृ. 54

314. *समराइच्च कहा 6, पृ. 521*

315. *अथर्ववेद* 11/6-23

316. अग्रवाल वासुदेवशरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ. 9 /8-9

317. *आयारंग* 1, 5,6

318. तत्रैव

319. *आयारंग 1,5,5*

320. *उत्तरज्यण,* 37, 67

321. *आयारंग* 1,9, 14

322. *उत्तर* 3.2

323. *समराइच्चकहा* 4, पृ. 314, 8, पृ. 826

324. तत्रैव 4, पृ. 342, 5, पृ. 396, 475, 486, 7, पृ. 623

325. तत्रैव 1 पृ. 13, 37, 5, पृ. 490, 7, पृ. 711, 8 पृ. 789

326. *भगवती सूत्र 9 /33 /387*

327. *समराइच्चकहा* 2, पृ. 109

328. तत्रैव 7, पृ. 625, 8 पृ. 851

329. जैकोबी स्टडीज इन जैनिज्म, पृ. 20

330. *ठाणग सूत्र* 166-67

331. "दुख आत्मकृत है, न परकृत न उभय कःत"

332. *आपारंग 1.3.3*

333. *कठ,* 6-16 *प्रश्न* 3-7

334. *आयारंग* 1,9

335. *उत्तर झयण,* 30

336. *समराइच्चकहा* 7, पृ. 721,8 पृ. 811, 8259, पृ. 955-56

337. *पातंजलयोगदर्शन,* कैवल्यपाद सूत्र ॥ 6 ॥

338. *भगवद्गीता* अध्याय 4- ॥-16 ॥

339. तत्रैव अध्याय 4- ॥ 17 ॥

340. तत्रैव 7 पृ., 611

341. *वासुदेव हिण्डी* पृ. 14-31, 69

342. तत्रैव, पृ. 273

343. तत्रैवए 7 पृ. 719-20, 722, 724, 9, पृ. 930

344. तत्रैव 7, पृ. 612, 722

345. तत्रैव 6, पृ. 587-88, 9 पृ. 862-63, 941

346. *भगवती सूत्र* 12/2/443

347. *भगवती सूत्र 10/2/396*

348. *गीता* अ. 3 14 15

349. *रामायण* 2/53/10

350. मट्टाचार्य सुखमय महाभारत कालीन समाज पृ. 272

351. *अष्टाध्यायी* 6/2/152

352. अग्रवाल वासुदेवशरण पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ. 379

353. *मार्कण्ड़ेय पुराण* 57/62/63

354. तत्रैव 20/36-37

355. *कुवलयमाला* 151ऋ1

356. *सर्वदर्शन संग्रह* पृ. 33

357. प्राचीन यूनान में डिमोक्रिहस और एम्पेडोक्लीज के अणु-सम्बन्धीमतो का अन्तर इससे कुछ मिलना जुलता है।

358. *सर्वदर्शन संग्रह* पृ. 36

359. *गुणरत्न* पृ. 58-9

360. इस सिद्धानत का न केवल पुद्गल मे बल्कि सत्क अन्य रूपो मे भी अनुप्रयोग गुणरत्न, पृष्ठ 87-8 द्रष्टव्य है।

361. *छान्दोग्य उपनिषद* 7.2.2

362. *मुण्डक उपनिषद* 2.1.1

363. सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्ग उमास्वाति, 1,1

364. जैकोबी सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट 22 जिल्द 22 पृ. XXII इत्यादि।

365. *कुवलयमाला* 204, 27

366. *ललितविस्तर* (अ. 17)

367. *मालतीमाधव* (अंक 1

368. *समराइच्चकहा* भव4

369. *उत्तरार्ध* पृ. 281

370. *यशस्तिलक एण्ड इंडियन कल्चर,* पृ. 356, 57

371. *कुवलमाला* 63.22

372. तत्रैव 225-31

373. द्रष्टव्य ब्रहाम्सूत्र 2. 2. 35-36 रामानुज का भाष्य

374. *यशास्तिलक, उत्तरार्ध,* पृ. 269

375. *कुवलयमाला* 225, 27

376. भण्डारकर, वै. वै. धा. मा. पृ. 113, 24

377. *समराइच्चकहा* 1, पृ. 38; 5 पृ. 392; 7, पृ. 664, 667

378. तत्रैव 1, पृ. 14

379. तत्रैव 1पृ. 12, 14, 17, 26, 36-40

380. तत्रैव 1, पृ. 42-43

381. तत्रैव 1, पृ. 16, 5 420, 422-23

382. महाभाष्य 3/1//15 पृ. 55

383. *काशिका* 3/1/88

384. *महाभाष्य* 2/3/36, पृ. 390

385. *समराइच्चकहा* 5, पृ. 471

386. तत्रैव 5. पृ. 415, 418, 422

387. तत्रैव 1. पृ. 16. 17, 21-22-23-24. 26. 31. 33. 41. 5 पृ. 414. 418. 6. पृ. 666. 689. 690

388. तत्रैव 1. पृ. 13,5 पृ. 436. 438. 6 पृ. 866: 9 पृ. 920. 922

389. तत्रैव 4. पृ. 272, 5 पृ. 423

390. तत्रैव 5. पृ. 436

391. *रघुवंश* 1/5/

392. *उत्तर रामचरित* 3/48/

393. *कादम्बरी,* अनुच्छेद 17

394. तत्रैव, अनुच्छेद 381

395. *वशिष्ठ धर्मसूत्र* 2/11/25

396. *समराइच्चकहा* 5, पृ. 410 11 423-24

397. तत्रैव 5, पृ. 423 ।

398. *महाभाष्य* 3/2/14 पृ. 212

399. *आपस्तम्ब धर्म सूत्र* 2/9/21/18.19

400. *अभिज्ञान शाकुतल 1/26*

401. *अष्टाध्यायी* 2:1:70

402. तत्रैव 2/1/70

403. *मालविकाग्निमित्र* 1/14

404. *कुवलयमाला* 150,27

405. वेदालंकार हरिदत्त भारत का सांस्कृतिक इतिहास पृ. 96 ।

406. पातञ्जलयोग–प्रदीप पृ. 10 (महाभारत से उद्धृत)

407. *तत्रैव, शंकर विष्णुसहस्रनाम भाष्य ।*

408. *भगवद्गीता* अध्याय 10, श्लोक 26 ।

409. *श्वेता. उप.–अध्याय 5, मंत्र 2 ।*

410. *पातञ्जलयोग-प्रदीप पृ.* 10 *पंचशिखाचार्य ।*

411. *तत्रैव वाचस्पति मिश्र ।*

412. *सांख्य दर्शन सूत्र* 1।

413. *सांख्य दर्शन-सूत्र*, 2, 3।

414. *सां. द. सूत्र* 4।

415. *सांख्य कारिका* 18,।

416. *सांख्य दर्शन*, 1/149

417. *कुवलयमालाकहा* 150, 291

418. हिरियण्णा एम., आउट लाईन्स ऑव इण्डियन फिलासफी पृ., 138।

419. *श्लोकवार्त्तिक* 1.5

420. *कुवलयमाला* 20335

421. *कुवलयमाला* 204.1

422. *श्वेताश्वतर उपनिषद* 6.11

423. *छान्दोग्योपनिषद्*, 6.2, 1 'एक एवहि भूतात्मा' अमृत बिन्दु उप. भ. पृ. 12 पृ. 15

424. *भगवद् गीता* 6-29, 30

425. भगवद् गीता, अध्याय 3, श्लोक 9

426. *ब्रह्म सूत्र* (वेदान्त दर्शन) सूत्र-1

427. तत्रैव, 2

428. तैत्तरीयोपनिषद 3/1

429. *ब्रह्म सूत्र*, 1/1/13

430. *तैत्तरीय ब्राह्मण* 3/12

431. *ब्रह्म सूत्र* 1/1/4,

432. *कठोपनिषद*, 1/2/15

433. *वेदान्त* 3/2/23,

434. *ईशोपनिषद*-8,

435. *तै.* 2/2/12/

436. *पातञ्जलयोग-प्रदीप*, पृ. 31 *(मुण्डकोपनिषद से उद्धृत)* ।

437. *कुवलयमाला*-150, 28

438. तत्रैव-2.29

439. भण्डारकर, वै. शै. मा. पृ. 135

440. कुवलयमाला-150, 30

441. न्याय सूत्र, 1.1

442. वैशेषिक दर्शन 1-1/4

443. *वैशेषिक दर्शन* 1/2/5

444. *न्याय दर्शन,* 1/1

445. *कुवयमाला,* 203, 31

446. *कुवलयमाला* 203, 33

447. *पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद* 1, *सूत्र* 2 ।

448. तत्रैव

449. तत्रैव

450. तत्रैव, कैवल्यपाद 34 ।

अध्याय 4

मूर्तिशिल्प और स्थापत्य

जैन कथाओं के अनुशीलन से जैन मूर्ति पूजा तथा मंदिर आदि से सम्बन्धित स्थापत्य पर प्रकाश पड़ता है। कुवलयमाला में उल्लेखनीय पद्म प्रभ देव सौधर्म विमान जिन गृह में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने नाना प्रकार की जिनवर प्रतिमाओं को देखा। कोई प्रतिमा स्फटिक मणि से, कोई सूर्यकान्त मणि से कोई महानील मणि से, कोई कर्केतन रत्न से निर्मित थी।[2] कोई प्रतिमा मुक्ताफल से निर्मित थी, कोई मरकत-मणि से निर्मित थी एवं श्यामल वर्ण की थी। इससे इंगित होता है कि मूर्तियाँ कई रंगो वाली होती थीं। तथा विभिन्न प्रमाण और मानयुक्त होती थी। कभी-कभी मूर्तियों कई द्रव्यों के मिश्रण से निर्मित होती थी और धातु से साँचे में ढाल कर बनाई जाती थीं। आठवीं शताब्दी की इस प्रकार की बहुत सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[3] प्रमाण और मानयुक्त मूर्तियाँ ही श्रेयस्कर समझी जाती थीं। मूर्ति निर्माण मे शास्त्रविहित द्रब्यों में स्फटिक, पद्मराग, वज्र, वैदूर्य, पुण्य तथा रत्न का उल्लेख मिलता है।[5] श्वेत संगमरमर की तीर्थंकर मूर्तियाँ आठवीं शताब्दी से उपलब्ध होने लगती हैं[6]। मुक्ताशैल से निर्मित शिवलिंग[7] तथ चषक[8] का उल्लेख बाण ने भी किया है। यक्ष प्रतिमा के ऊर तीर्थकर की मूर्तियाँ बनी हुई प्राप्त हुई हैं। रत्न शेखर यक्ष की कथा के प्रसंग में उद्योतन ने उल्लेख किया है कि उसने भगवान ऋषम देव की भक्ति करने के लिए अपनी मुक्ता शैल से एक बड़ी प्रतिमा को निर्मित किया तथा उसके मुकुट के ऊपर ऋषम देव की मूर्ति को स्थापित किया।[9] मथुरा संग्रहालय से प्राप्त तीर्थंकरों की 33 प्रतिमाओं में से 3 पर विशेष प्रकार के चिन्ह भी अंकित पाये गये हैं।[10]

लगभग आठवीं सदी से तीर्थीकरों की प्रतिमाओं के साथ उनके अनुचर के रूप में यक्ष-यक्षिणिओं की प्रतिमाएँ भी बनायी जाने लगी थीं। प्रत्येक तीर्थंकर का एक-एक यक्ष और

याक्षिणी भक्त माना जाता था। भक्ति विशेष के कारण यक्ष यक्षिणी तीर्थंकर को अपने सिर पर भी धारण करने लगे थे। उद्द्योतन के समय इस परम्परा का अधिक प्रचार रहा होगा, इसीलिए उन्होंने एक कथा का रूप देकर इसका उल्लेख किया है। वर्तमान में ऋषभदेव की मूर्ति को सिर पर धारण किये हुए यक्षिणी की दो प्रतिमाएँ उपलब्ध हैं। मथुरा संग्रहालय में 45 सेमी. ऊँची यक्षिणी की पाषाण मूर्ति है, जिसके ऊपर पद्मासन और ध्यान मुद्रा में जिन प्रतिमा बनी हुई है। दूसरी मूर्ति मध्यप्रदेश के विलहरी ग्राम (जबलपुर) के लक्ष्मण सागर तट पर खैरामाई की मूर्ति है, जो चक्रेश्वरी यक्षिणी है तथा जिसके मस्तक पर आदिनाथ की प्रतिमा है।[11] यक्षिणी की मूर्ति के ऊपर जिन प्रतिमा का स्थापन लगभग आठवीं शताब्दी से प्राप्त होने लगता है। यू. पी. शाह ने इस पर विशद प्रकाश डाला है।[12] जिन प्रतिमा को सिर पर धारण किये हुए यक्ष-मूर्तियाँ ग्यारहवीं सदी से पहले की प्राप्त नहीं होती। किन्तु उद्द्योतन सूरि के उल्लेख से ज्ञात होता है 8 वीं सदी में भी ऐसी मूर्त्रियां बनने लगी थीं। राजस्थान में चित्तौड़ के पास बाँसी नामक स्थान से जैन कुबेर की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके सिर तथा मुकुट पर जिन प्रतिमा स्थापित है।[13]

कुवलयमाला के अनुसार[14] आठ देव कन्याओं का वर्णन उपलब्ध है

1. स्वर्णकलश लिए हुए (भिगार)

2. पंखा धारण किये हुए (तलियण्टे अण्णे)

3. स्वच्छ चांवर लिए हुए (अण्णेगेण्हंति चामेर विमले)

4. श्वेत छत्र लिए हुए (धवलं च आयवत्तं)

5. श्रेष्ठ दर्पण लिए हुए (अवरे वर-दप्पण-विहत्था)

6. मृदंग धारण किए हुए (मुंइम हत्था)

इनको इन्द्र की आठ अप्सराएँ कहा गया है तथा भारतीय साहित्य में अष्टकन्या के रूप में इनका पर्याप्त उल्लेख हुआ है।[15] बालमीकि रामायण में रावण के विमान के साथ अष्टकन्याओं का उल्लेख है, जिनमें दो वीणा और मृदंग के स्थान पर स्वर्णप्रदीप एवं तलवार धारण किये हुई हैं।[16] राम के अभिषेक के समय भी इस प्रकार की कन्याओं का उल्लेख है।[17] महाभारत में राजा युधिष्ठिर प्रातः काल अन्य मांगलिक द्रब्यो के साथ अष्टकन्याओं के भी दर्शनकरता था।[18] यात्रा प्रारम्भ करते समय अष्टकन्याओं को देखना शुभ माना गया है। ललितविस्तार में इन आठ कन्याओं के नाम इस प्रकार आये हैं।—

1. पूर्णकुम्भ कन्या 2. मयूरहस्तकन्या 3. लालवृटटंक कन्या 4. गंधोदक भृंगार कन्या 5. विचित्र पटलक कन्या 6. प्रलम्बकमाला कन्या 7. रत्न-भद्रालंकार कन्या तथा 8. भद्रासनकन्या[19] ये आठ दिव्य कन्याएँ बौद्ध तथा जैन धर्म में समानरूप से मांगलिक मानी जाती थी। वास्तु कला में भी इनका अंकन होने लगा था। मथुरा मे प्राप्त रेलिंग पिलर्स में इनका अंकन पाया जाता है।[20]

कुवलयमाला के अनुसार समवसरण के निर्माण में ऊँचे स्वर्ण निर्मित तोरणों पर मणियों से निर्मित शालमंजिकायें लक्ष्मी की शोभा प्राप्त कर रही थी।[21] ऋषमपुर में चोर के भवन में ऊँचे स्वर्ण के तोरणों पर श्रेष्ट युवतियाँ सुशोभित हो रही थीं।[22] शालभंजिका और लक्ष्मी की तुलना बाण ने हर्षचरित्र[23] में भी की है। शालभंजिकाएँ भारतीय स्थापत्य में प्राचीन समय से प्रचिलित रहीं हैं। प्रारम्भ में फूले हुए शालवृक्षों के नीचे खड़ी होकर स्त्रियाँ उनकी डालों को झुकाकर और पुष्पों के झुग्गे तोड़क्रीड़ा करती थीं, जिसे शालभंजिका क्रीड़ा कहते हैं थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी[24] में इस प्रकार की क्रिडाओं के नाम आये हैं। वात्स्यान की जयमंगला टीका में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। धीरे धीरे वह उस क्रीडा की मुद्रा और उस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री भी शालमंजिका कही जाने लगी। बाद में इस मुद्रा में स्थित स्त्रियों का भी अंकन कला में होने लगा। सांची, भरहुत, मथुरा में तोरण बँडेरी और स्तम्भ के बीच में

तिरछे शरीर से खड़ी हुई स्त्रियों के लिए तोरणशाल मंजिका कहा गया है। कुषाण काल में अश्वघोष ने इसका उल्लेख किया है।[25] मथुरा के कुषाण कालीन वेदिका स्तम्भों पर निर्मित इसी प्रकार की स्त्रियों को स्तम्भशालामंजिका कहा गया है।[26] कालिदास ने स्तम्भों पर बनी योषित मूर्तियों का उल्लेख किया है।[27] उद्द्योतनसूरि ने इन्हीं को शालमंजिका एवं वरयुवति कहा है शालमञ्जिका की परम्परा मध्यकालीन स्थापत्य एवं साहित्य दोनों में ही परिलक्षित होती है। तुलसीदास ने भी इनका उल्लेख किया है इस प्रकार भारतीय स्थापत्य की यह विशेषता लगभग दो सहस्त्र वर्षो तक अक्षुण्ण बनी रही है।[28]

कुवलयमाला में प्रतिमाओं के विभिन्न आसनों का वर्णन प्राप्त होता है।[29] (1) प्रतिमागता (पडिमा गया) (2) नियम में स्थित (णियम-ट्ढिया) (3) वीरासण (विरासणट्टिया (4) कुक्कुट आसन (उक्कुडुयासण) (5) गोदोहन आसन (गोदोहसंठिया) (6) पद्मसन पउमासण-टिय

प्रतिमाविज्ञान में आसनों का विशेष महत्व है। किस देवता की मूर्ति किस आसन में बनायी जाय इसमें दो बातों का ध्यान रखा जाता था। प्रथम देव के स्वभाव एवं पदप्रति के कारण अनुकूल आसन स्थिर किया जाता था। दूसरे ध्यान एवं योग की सिद्धि के लिए प्रतिमाओं को विशेष आसन प्रदान किये जाते थे[30] क्योंकि उपास्य एवं उपासक दोनों में एकात्माकता आवश्यक समझी जाती थी।[31] कुवलयमाला के उपर्युक्त संदर्भ में जैन साधु उन्हीं आसनों (प्रतिमाओं) में स्थित होकर ध्यान कर रहे थे, जिन से उनकी चित्त वृत्ति का विरोध हो सके। इन आसनों का प्रतिमा स्थापत्य में भी प्रभाव रहा है।

सरस्वती के स्वरूप का चित्रांकन खजुरा हो की दीवालों पर देखने को मिलता है, वहाँ वह अपने वाहन हंस पर आसीन हाथ में वीणा लिये हुये हैं।[32]

भरहुत की वेदिका के स्तम्भों पर हमें लक्ष्मी के विकसित दो स्वरूप प्राप्त होंते हैं। एक बैठा हुआ[33] तथा दूसरा खंड़ा[34] हुआ। बैठी हुई मूर्ति योगासन की मुद्रा में दोनों हाथ

जोड़े हुये कमल के फूल पर स्थित हैं। खड़ी हुई मूर्ति के एक हाथ में कमल का फूल तथा दूसरा वरह मुद्रा में नीचे की ओर लटका हुआ है। इन दोनों प्रकार के फलकों में गज स्नान करा रहे हैं। इसके साथ-साथ लक्ष्मी का स्वरूप प्राचीन भारतीय मुद्राओं, मुहरों, तथा अभिलेखों में भी चित्रित किया गया है।[35] प्राचीन भारतीय मूर्तिकला तथा मुद्रा निर्माण कला में लक्ष्मी का चित्रांकन दूसरी शताब्दी ई.पू. से प्रारम्भ होकर बारहवीं ईसवीं तक चलता रहा[36]। जैन कथा साहित्य के अनुसार समाज में **चण्डिका देवी**[37] की अपूर्व शक्ति में विश्वास किया जाता था एवं मन्दिरों में उनकी मूर्ति स्थापित कर समुचित पूजा की जाती थी।[38] उन की पूजा लोग समृद्धि के लिए करते थे।[39] चण्डिका की मूर्तियाँ अनेक स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[40]

मौर्यत्तर काल से ही सूर्य देव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, और तभी से सूर्य देव की मूर्ति पूजा का प्रारम्भ होता है।[41] गुप्तकाल में सूर्य देव के बहुत से मंदिर निर्मित किये गये। कुमार गुप्त के शासन काल में सूर्य के सम्मान में मन्दसौर (मालवा) में तथा स्कन्दगुप्त के समय में मध्यदेश में सूर्य देव का मंदिर बनवाया गया जिसमें उन्हें भाष्कर कहकर उनकी प्रार्थना की गई है।[42] अलवरूनी ने थानेश्वर नामक नगर में सूर्य देव की एक विशाल मूर्ति देखी थी।[43]

खुजराहो में सूर्य देव की मूर्ति के चतुर्भुज मंदिर की दीवाले पर चित्रित किया गया है। वह सात छोड़ों से खींचे जाने वाले रथ में बैठे हुये चित्रित किये गये है।[44] खुजराहों के संग्राहालयों में भी सूर्य मूर्ति देखने को मिलती है।

प्रतिमाविज्ञान की दृष्टिकोण से कुषाण गुप्त, प्रतिहार, चन्देल, और चौलुक्य, राजवंशों का शासन काल विशेष महत्वपूर्ण था। इन राजवंशो के काल में उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में मथुरा, देवगढ़, अकोटा खुजराहो, ओसिया, ग्यारसपुर, कुंभारिया, आबू जालोर, तंरगा, नवमुनि-बारमुजी गुफाएँ एवं अन्य महत्वपूर्ण जैन कलाकेन्द्र पल्लवित और पुष्पित हुए।

जैन प्रतिमाविज्ञान के प्रारम्भिक विकास उत्तर भारत में हुआ। लोहानीपुर (पटना) एवं चौसा (भोजपुर) से मिली प्रारम्भिक जैन मूर्तियां मीली हैं। ऋषमनाय की लटकती जटाओं, पाश्र्वनाथ के सात सर्पफण, जिनों के वक्षस्थल में श्रीवत्स चिन्ह और शीर्षभाग में उष्णीश तथा जिन मूर्तियों में अष्टप्रतिहार्यो और दोनों पारम्परिक मुद्राओं (कायोत्सर्ग एवं ध्यान मुद्रा) का प्रदर्शन सर्वप्रथम इसी क्षेत्र में हुआ। दक्षिण भारत की जिन मूर्तियों में उष्णीश नहीं प्रदर्शित है। श्रीवत्स चिन्ह भी वक्षस्थल के मध्य में न होकर समान्यतः दाहिनी ओर उत्कीर्ण है।[45] जिन मूर्तियों में लाछनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों का निरूपण भी सर्व प्रथम उत्तर भारत में ही हुआ। दक्षिण भारत के मूर्ति अवशेषों महाविद्याओं, 24 यक्षियों, आयापट्ट, जीवंत स्वामी महावीर, जैन युगल आदि की मूर्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तरभारत में इनकी अनेक मूर्तियाँ हैं।

उत्तरभारत में ऋषभनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। इसके वाद पार्श्वनाथ, महावीर और नेमिनाथ की मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिणभारत में महावीर और पार्श्वनाथ की सर्वाधिक मूतियाँ बनी। ऋषभनाथ की मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से नगण्य हैं। उत्तर भारत में चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती यक्षियों की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। पर दक्षिण भारतमें चक्रेश्वरी के स्थान पर चंद्रप्रभ की यक्षी ज्वालामालिनी की सर्वाधिक मूर्तियाँ बनी। ज्वालामालिनी के बाद अम्बिका एवँ पद्मावती की सर्वाधिक मूर्तियाँ हैं। यक्षों में दक्षिण भारत में गोमुख, कुबेर, धरणेन्द्र एवं मातंग की मूर्तियाँ मिली हैं। उत्तर भारत में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परा की मूर्तियाँ बनी, जबकि दक्षिण भारत में केवल दिगम्बर परम्परा की ही मूर्तियाँ हैं।[46]

ऐसा कहा जाता है कि महावीर के जीवन काल में ही एक प्रतिमा का निर्माण किया गया था। जीवांत्मस्वामी मूर्तियों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय यू.पी. शाह को है।[47] साहित्यिक परम्परा को विश्वसनीय मानते हुए शाह ने महावीर के जीवन काल से ही जीवंतस्वामी मूर्ति की परम्परा को स्वीकार किया है। उनहोंने साहित्यक परंपरा की पुष्टि में अकोटा गुजरात

से प्राप्त जीवंतस्वामी की दो गुप्तयुगीन कांस्य प्रतिमाओं का भी उल्लेख किया है।[48] इन प्रतिमाओं में जीवंतस्वामी को कायोत्सर्ग मुद्रा में और वस्त्राभूषणों से सज्जित दर्शाया गया है। पहली मूर्ति लगभग पांचवी शती ई. की है और दूसरी लेख युक्त मूर्ति लगभग छवीं शती ई. की है। दूसरी मूर्ति के लेख में 'जीवंतसामी' उत्कीर्ण है।[49]

पूर्व मध्य युग में श्वोताम्बर स्थलों पर अनेक ऐसी देवियों की भी मुर्तियाँ दृष्टिगत होती हैं, जिनका जैन परम्परा में अनुल्लेख है। इनमें हिन्दू शिवा और जैन सर्वानुभूति (या कुबेर) के लक्षणों के प्रभाव वाली देवियों की मूर्तियाँ सबसे अधिक है। जैन युगलों राम-सीता तथा रोहिणी, मनोवेगा, गौरी गांधारी यक्षियों और गरुड़ यक्ष की मूर्तियाँ केवल दिगम्बर स्थलों से ही मिली हैं। दिगम्बर स्थलों से परम्परा विरुद्ध और परम्परा में अवर्णित दोंनो प्रकार की कुछ मूर्तियाँ मिली है। द्वितीर्थी और तितीर्थी जिन मूर्तियों का अंकन और दो उदाहरणों में त्रितीर्थी मूर्तियों में सरस्वती और बहुबली का अंकन, बहुबली एवं अंबिका की दो मूर्तियों में यक्षयक्षी का निरूपण तथा ऋषभनाथ की कुछ मूर्तियों में पारम्परिक यक्ष–यक्षी, गोमुख चक्रेश्वरी, के साथ ही अम्बिका, लक्ष्मी, सरस्वती, आदि का अंकन इस कोटि के कुछ प्रमुख उदाहरण है। इस वर्ग की मूर्तियाँ मुख्यत: देवगढ़ एवं खजुराहों से मिली है। श्वेतांम्बर और दिगम्बर स्थलों की शिल्पसामग्री के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुरुष देवताओं की मूर्तियाँ देवियों की तुलना में नगण्य हैं। जैन कला में देवियों की विशेष लोकप्रियता तान्त्रिक प्रभाव का परिणाम हो सकती है। जैन परमम्परा पर तान्त्रिक प्रभाव के अध्ययन की दृष्टि से कतिपय सन्दर्भो की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना उपयुक्त होगा। खुजराहों के पाश्र्वनाय मन्दिर (950-60 ई.) की भित्ति पर चारों तरफ शक्तियों के साथ आलिंगन मुद्रा में देवयुगलों की कई मूर्तियाँ हैं। इनमें शिव, विष्णु, ब्रह्म, अग्नि कुबेर, राम, बलराम आदि की शक्ति सहित मूर्तियाँ हैं जो स्पष्टत: हिन्दू प्रभाव दर्शाती हैं। इसी मन्दिर के उत्तरी और दक्षिणी शिखर पर कामक्रिया में रत दो युगल भी आमूर्तित हैं। काम क्रिया से सम्बन्धित या अलिंगन मुद्रा में साधुओं के अंकन भी देवगण के जैन मन्दिरों के प्रवेश द्वारों पर उपलब्ध हैं। उपयुक्त दिगम्बर स्थलों के अतिरिक्त

नाडलाई (पाली) राजस्थान के शांतिनाथ मन्दिर (श्वेताम्बर) के अधिष्ठान पर भी काम क्रिया में रत कई युगलों का अंकन हुआ है। जैन मन्दिरों पर देवताओं की शक्ति सहित आलिंगन मूर्तियाँ एवं कामक्रिया से सम्बन्धित अंकन परम्परा सम्मत नहीं है। जैन धर्म उदार धर्म रहा है। जिसकी धार्मिक मन्याताओं में समय के अनुरूप कुछ आवश्यक परिर्वतन या शिथिलन होते रहें हैं। मध्ययुग तांत्रिक प्रभाव का युग था। फलत: जैन धर्म में भी उस प्रभाव को किंचित् नियन्त्रण के साथ स्वीकार किया गया जिसे कला में भी उपयुक्त स्थलों पर अभिव्यक्ति मिली। पर इस प्रभाव को उद्दाम नहीं होने दिया गया जैसा कि खुजराहो और उड़ीसा के हिन्दू मन्दिरों पर कामक्रिया से सम्बन्धित अंकनो के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है। जैनग्रन्थ हरिवंशपुराण (जिनसेन कृत, 783 ई.) में एक स्थल पर उल्लेख है कि सेठ कामदत्त ने एक जिन मन्दिर का निर्माण किया और सम्पूर्ण प्रजा के आर्कषण के लिए इसी मन्दिर में कामदेव और रति की भी मूर्ति बनवायी ग्रंथ में यह भी उल्लेख है कि यह जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कौतुकवश आये लोगों को जिन धर्म की प्राप्ति का कारण है।[50] जिन मूतियों के पूजन के साथ ग्रंथ में रति और काम देव की मूर्तियों के पूजन का भी उल्लेख है।[51] हरिवंश पुराण का उल्लेख स्पष्टत: जैन धर्म में आये शिथिलन और उसके उद्देश्य को स्पष्ट करता है।

वास्तुकला

कुवलयमाला में से वास्तुकला से सम्बन्धित अनेक परिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न प्रसंगों में उल्लखित निम्न शब्द स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

ध्वजा के लिए धवल-ध्वज पट[52], कोटिपताका[53] तथा सिंह पट [54] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। भवनों की ध्वजाएं इतनी ऊंची होती थीं कि सूर्य के घोड़े उनकी हवाओं से अपने परिश्रम को शान्त करते थे।[55] इस साहित्यक अभिप्राय का भारतीय साहित्य में बहुत उल्लेख हुआ है।

ऊंचे भवनों के लिए तुंगभवन[56], तुंग-अट्टालक[57] तुग-शिखर[58] एवं तुंग[59] शब्दों का प्रयोग हुआ ह। सम्भवत: तुंग शब्द भवन के ऊंचे कंगूरों के लिए प्रयुक्त होता था।

विनीता नगरी के भवन-शिखर कृष्णमणियों से बनाये गये थे जो मेघसमूह सदृश थे।[60] समवसरण की रचना में रत्नों के शिखर बनाये गये थे।[61], प्राचनी स्थापत्य में चौसर भवनों के स्थान पर शिखरयुक्त भवनों के बनाने का अधिक प्रचलन था।

भवन के प्रमुख द्वार पर तोरण बनाये जाते थें। विनीता नगरी के भवनों के तोरण मणियों से।[62] तथा समवसरण के तोरण स्वर्ग से बनाये गये थे।[63]

कुवलयचन्द्र को देखने के लिए नगर की कुल बालिकाएं भवन के विभिन्न स्थानों पर बैठीं थीं।[64] जहाँ से राजमार्ग में जाता कुमार दिखायी पड़ता था। साहित्यक दृष्टि से कुवलयमाला-कहा का यह वर्णन परम्परागत है।[65]किन्तु स्थापत्य की दृष्टि से इसमें भवन के कई मार्गो का उल्लेख है। यथा-कोई युवती रक्षामुख पर, कोई द्वार देश पर, कोई ग्वाक्ष पर, कोई गलाएँ पर (घर के उपरीतल पर) कोई चौपाल में, कोई राजांगण में, कोई दरवाजे की देलही पर, कोई चौपाल में, कोई राजांगण में, कोई दरवाजे की देलही पर, कोई वेदिका पर, कोई कपोतपाली पर, कोई हर्म्यतल पर, कोई भवन शिखर पर तथा कोई युवती ध्वाजाग्राभाग पर स्थित थी।[66] इनमें से अधिकांश की पहिचान प्राचीन साहित्यिक उल्लेखों एवं पुरातत्व की समाग्री के अध्ययन से की जा सकती है।

उद्द्योतन ने इन प्रसंगों में गवाक्ष का उल्लेख किया है। गवाक्ष से कुमार को देखती हुई स्त्रियाँ[67] तोसल राजकुमार ने महानगर श्रेष्ठि के धवलगृह के जालगवाक्षविविर के भीतर से मेघों के विविर से निकले हुए चन्द्र सदृश किसी बालिका के मुख कमल को देखा।[68] सुवर्ण देवी महोहर जीव-दर्शन करने के लिए जालगवाक्ष पर आसन और शैया रखी गयी-ठवेसु

जाल-गवक्खाएं अत्थुरसेज्जं।[69] कामगजेन्द्र की कल्पना जालगवाक्ष जैसी फैल गयी-पसरइ व जालगवक्खएसु[70]

इस विवरण के से ज्ञात होता है कि गवाक्ष भवन के ऊपरी तल पर बनाये जाते थे, जो राज्यपथ पर खुलते थे। जालगवाक्ष उन गोल खिड़कियों को कहते थे, जिनसे भवन में हवा आती जाती थी। सम्भवतः इस समय तक जाल गवाक्ष कुछ बड़े आकार के बनने लगे थे। डा. कुमारस्वामी के अनुसार गुप्तयुग के वालायत गोल होते थे। तभी उनका नाम (बैल की आँख की तरह गोल) पड़ गया।[71] गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्री मुख न केवल साहित्य में[72] अपितु कला में भी पाये जाते हैं। अजन्ता की गुफा 19 के मुखभाग में स्त्री मुखयुक्त गवाक्ष जालो की पंवितियाँ अंकित हैं।[73]

मालाए, वेदिका एवं ध्वाजग्रभाग भी गवाक्ष के प्रकार प्रतीत होते हैं। मालाए का अर्थ शब्दकोश में घर का उपरिभाग कियागया है। जिसे अर्थ में मंजिल तथा गुजराती में मालों कहा जाता था। सम्भवतः एक छोटी बालकनी के सदृश रही होगी। वेदिका वातपान का उल्लेख शुगकाल कुषाण काल में मिलता है।[74] सम्भवतः रोशनदान के लिए पुराना नाम आठवीं सदी में भी प्रचिलित रहा हो। बालकनी में कुवलयमाला कहा में निज्जूहय[75] तथा मत्तवारण[76] शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। सम्भवतः इनके आकार में कुछ भेद होने से इन्हे भिन्न नाम प्रदान किये गये हैं।

कपोतपाली का उद्द्योतन ने केवल एक बार उल्लेख किया है। अण्णा कओलवालीसुं।[77] यह उद्द्योतन ने प्राचीन भारतीय स्थापत्य की उस परावतमाला की ओर संकेत किया है जो भवनों के शिखर पर बनायी जाने लगी थी। अनेकअलंकरणों के साथ भवनों के शिखरों पर पत्थरों के कबूतर भी शोभा के लिए बना दिये जाते थे। जिन्हें कपोतपाली कपोताली केवाली कहा जाता था।[78] गुप्तकालीन पदताड़ितकम् नामक ग्रन्थ में वरवनिताओं के भवनों के वर्णन

में कपोतपाली [79] तथा कदम्बरी में सिखरेषु परावतमाला (पृ.26) का उल्लेख हुआ है कुवलयमाला में वर्णन है कि नगर की युवतियाँ सम्भवतः शिखरो चढ़ कर कपोतपाली के समीप से कुमार कुवलय चन्द्र को देख रही थी। उद्द्योतनसूरि ने धवलगृह का बितनी बार उल्लेख किया है। सर्वत्र उसे उपरीतल पर स्थित कहा है। इससे स्पष्ट है कि धवलगृह के द्वार में प्रवेश करते ही उपर जाने के लिए दोनों ओर सोपानमार्ग होता था।

कुवलयमाला में भवन के छोटे कमरों के लिए कई शव्द प्रयुक्त हुए हैं। मायादित्य को जब चोर समझ कर पकड़ लिया गया तो उसे उपघर में वन्द करने का आदेश दिया गया।[80] उसके विलाप करने पर भी उसे घर-कोट्ट में बन्द कर दिया गया।[81] नरक के दुखों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ छोटे घरों के दरवाजे भी छोटे होते थे-घड़ियालयं मडहदारं।[82] ये शब्द तत्कालीन भवन स्थापत्य में भी प्रयुक्त होते रहे होंगे।

इन प्रमुख परिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त उद्द्योतन ने भवन स्थापत्य के अतिरिक्त निम्नशब्दों का भी उल्लेख किया णिज्जूदय[83] आलय[84] चुंपाल वेदिका[85] घर पलिह[86] कोट्टय कोणाओ[87], घरोवारिकु ट्टिम[88] द्वारसंघात[89] द्वारदेश[90], द्वारमूल[91], मणिकुट्टिम[92], मणिमयमिति हर्म्यतल[94] प्रसादतल[95], प्रसाद[96] प्रसाद शिखर[97] उल्लको छत्त[98] इनके अतिरिक्त विनीता नगरी[99] कौसाम्बी नगरी[100] एवं समवसरण[101] स्थापत्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।

कुवलयमाला में तीन प्रकार के यन्त्रिक उपादानों का इन प्रसंगों में उल्लेख है। वासभवन की सज्जा में प्रियतम के आने क़ी प्रतिक्षा के समय में यन्त्र शकुनों को मधु-संलाप में लगा दिया गया।[102] वासी में स्नान करते हुए किसी प्रोढ़ा ने लज्जा को त्यागकर जलयन्त्र की धार को अपने प्रियतम की दोनों ऑखों पर कर दिया और लपककर अपने प्रेमी का मुख चूम लिया।[103] यत्रजलघार से आकाश में मायामेघों द्वारा ढगे गये भवनों के हंस पावस ऋतु मानकर मानसरोवर को नहीं जाते थे।[104] उज्जयनी नगरी के जलयन्त्रों में मेघों की गर्जना होने से भवनों

के मोर हर्षित होकर नाचने लगते थे[105] उद्द्योतन ने यन्त्रशिल्प के सम्बन्ध में कोई विवरण नहीं दिया है। अन्य सन्दर्भो के आधार पर उनके इन तीन उल्लेखों को स्पष्ट किया जा सकता है।

विनीता नगरी में यन्त्रधासगृह में यन्त्रजल घर की रचना की गयी थी। यन्त्रधारा गृह में मायामेघ या यन्त्रजल घर का निर्माण प्राचीन वस्तुकला का एक अभिन्न अंग था। महाकवि बाण ने कादम्बरी में मायामेघ का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया है बालकों की पंक्ति के मुखों से निकली हुई सहस्त्र धाराएं बनावटी मेघमाला का दृश्य उपस्थित कर रही थी।[106] जिन सेन ने आदिपुराण[107] में धारागृह में गिरती हुई धाराओं से घनागम का दृश्य उपस्थित किया है-धारागृ हेसु निपतद्धाराबद्ध घनागमें। सोमदेव ने यन्त्रजल भर के झरने में स्थलकमिलिनी की क्यारी सींचने का उल्लेख किया है।[108] भोज ने शाही घरानों के लिए जिस प्रबर्षण नामक वारिगृह का उल्लेख किया है उसमें आठ प्रकार के मेघों की रचना की जाती थी।[109] हेमचन्द्र ने यन्त्रधारागृह के चारों ओर उठते हुए जलौध का वर्णन किया है।[110]

इस तरह ज्ञात होता है कि यन्त्रजल द्वारा मायामेघ बनाने का प्रचलन 6-7 वीं शदी से 12वीं सदी तक बराबर बना रहा। न केवल यन्त्रधारागृह में अपितु भवन के अलंकरणों में भी मायामेघ बनाने की प्रथा गुप्तयुग से मौर्ययुग तक बनी रही।[111]

उद्द्योतन ने यन्त्रशकुन का उल्लेख वास भवन सज्जा के सन्दर्भ में किया है। अत: कहा नहीं जा सकता कि यन्त्रधारागृह से इस यन्त्रशकुन का क्या सम्बन्ध था? सम्भवत: यह वासभवन का ही कोई अलंकरण विशेष रहा हो, जो पक्षी के आकार का बना रहा होगा तथा जिसे नियोजित कर देने पर मधुर-संलाप होने लगता होगा। वासभवन में यन्त्रशिल्पों को रखे-जाने की प्राचीन परम्परा थी। सोमदेव ने यशोमती के भवन के यन्त्रपर्यक और यन्त्र-पुत्तलिकाओं का वर्णन किया है, जिनके यान्त्रिक विधान का परिचय गोकुल चन्द्र जैन में दिया है।

सूचक है राष्ट्रकूटों ने एलौरा नामक स्थान पर ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन तीनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित गुहा-मंदिरों का निर्माण करवाया था। 800 ई. के लगभग यहाँ पर पाँच जैन गुहा मंदिर बनवाये गये जिनमें तीन प्रमुख हैं[120] पुरातत्व विभाग की ओर से इनको 30-34 तक की संख्यायें प्रदान की गई हैं। इनमें से छोटा कैलाश (सं-30) मंदिर[121] चट्टान तराश कर बनाया गया सुन्दर एकाश्मक (monolittic) मंदिर भी। स्वरूप संरचना की दृष्ट से यह एलौरा के भव्य ब्राह्मण सम्प्रदाय के कैलाश मंदिर की लघु अनुकृति प्रतीत होता है इसी के समीप स्थित इंद्रसभा (सं. 32) तथा जगन्नाथ सभा (सं. 33) दुमंजिले एकाश्मक मंदिर हैं।[122] इनके चतुर्दिक् द्रविड़ शैली के शिखर मंदिरों की लघु प्रतिकृतियाँ तथा प्रांगण में कीर्तिध्वजस्तम्भ तराशे गए हैं सम्पूर्ण संरचना में ब्राह्मण सम्प्रदाय के मंदिर स्थापत्य का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है जो इस तथ्य का सूचक है कि समाज में दोनों समुदायों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध विद्यमान थे। तमिलनाडु, कर्नाटक एवं आंध्रप्रदेश के छोटे आकार प्रकार वाले अनेक जैन मंदिर स्थित हैं। 10वीं शताब्दी के लगभग कर्नाटक में सोमनाथपुर हेलेबिड बेल गोला [123] नामक स्थानों पर अनेक जैन मंदिरों एवं विशालकाय तीर्थंकर मूर्तियों का निर्माण किया गया।

उत्तरभारत में चंदेलों के नेतृत्व में खजुराहो में अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया। इनमें से अधिकांश नष्ट हो चुके हैं। अवशिष्ट मंदिरों में 5-6 मंदिर जैन सम्प्रदाय के हैं। इनमें घण्टई मंदिर[124] का स्तम्भ युक्त मण्डप मात्र अवशिष्ट बचा है। शान्तिनाथ मंदिर[125] का इतनी बार जीर्णोद्धार एवं पुनःनिर्माण किया गया है कि उसका प्राचीन स्वरूप पूर्णतया नष्ट हो चुका है अधुना वहां पर जैन धर्म का विशाल मंदिर है जिसमें प्राचीन मूर्तियों एवं मंदिर के विविध अंगों का प्रयोग किया गया है। खजुराहों के मंदिरों के सर्वाधिक सुरक्षित आदि नाथ तथा पार्श्वनाथ मंदिर हैं। आदिनाथ मंदिर[1] आकार में छोटा है इसमें वर्गाकार गर्भ गृह, सामने की तरफ छोटा मण्डप तथा अर्धमण्डप विद्यमान ही इसकी बाह्य दीवार पर सुंदर मूर्ति शिल्प की तीन क्षैतिज पट्टियाँ प्राप्त होती हैं। मंदिर का शिखर शुद्ध नागर शिखर है जिसे लतिन शिखर कहा जाता है क्योंकि इसके चतुर्दिक् शिखर की लघु आकृतियाँ नहीं बनाई गई हैं। शिखर

का स्वरूप बहुत भव्य एवं संतुलित है पार्श्वनाथ मंदिर[126] आकार में बड़ा है। यह सान्धार अथवा प्रदक्षिणापथ से युक्त मंदिर है। इसका भी बहुलांश में जीर्णोद्वार किया गया है; किन्तु इसका प्राचीन स्वरूप अभी भी सुरक्षित है इसमें सामने की ओर अर्धमण्डप, मण्डप, अन्तराल कथा, गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, जालीदार खिड़कियाँ एवं गर्भगृह पीछे एक लघुकथन आदि अंगों की योजना मिलती है। यह मंदिर मूर्ति शिल्प के लिए विख्यात है। इसमें ब्राह्मण देवी देवताओं जैसे सरस्वती, गणेश शिव, ब्राह्मा, विष्णु आदि की सुन्दर आकृतियाँ वाह्य दीवार के चारों और[127] क्षैतिज पट्टियों में बनाई गई हैं। पाश्र्वनाथ की मूर्ति को यदि हटा दिया जाय तो इस मंदिर में तथा यहाँ स्थित ब्राह्मण सम्प्रदाय के अन्य मंदिरों में कोई मिलता नहीं दिखाई देती है। इससे समाज में व्याप्त धार्मिक सहिष्णुता (विशेषकर जैन एवं ब्राह्मण

सम्प्रदायों के बीच) का परिचय मिलता है। राजस्थान में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण किया गया। इनमें 11 वीं शताब्दी के जैन मंदिर समूह बहुत प्रसिद्ध हैं। ये मुजरात के बनारु कांठा जिले में कुमरियाजी[128] में स्थित हैं। सभी मंदिर संगमर्मर से बने हैं। इनमें पञ्चरथ गर्भगृह, मण्डप, स्तम्भयुक्त अर्धमण्डप, प्रार्थना कक्ष, पार्श्ववर्ती छोटे मंदिर, अनेकाडंक शिखर आदि विशेषतायें प्राप्त होती हैं। मंदिर अपनी वितान (False ceiling) सज्जा के लिए प्रसिद्ध हैं। शैलीकी दृष्टि से इन मंदिरों को राजस्थानी सोलंकी शैली का माना जा सकता है इस शैली का चरमोत्कर्ष आबू पहाड़ी के जैन समुदाय के दिलवाड़ा समूह[129] में दिखाई देता है इनमें 1031 तथा 1230 ई. के विमल वसही[130] एवं लूना वसाही[131] मंदिर विशेषरूप से उल्लेखनिय हैं। प्रत्येक में गर्मगृह, पाश्र्वकक्ष, मण्डप, स्तम्भ युक्त मण्डप, प्रार्थनाकक्ष आदि अंग मिलते हैं। संगमरमर से बने दोनों मंदिर अपनी वितान सज्जा के लिए विख्यात हैं। इन मंदिरों की मूर्ति सज्जा ब्राह्मण मंदिरों के समान हैं। वस्तुतः पूर्वमध्य कालीन मंदिर स्थापत्य में सभी सम्प्रदायों ने तत्कालीन विख्यात स्थापतियों (Architects) का सहयोग लिया था। इनमें से कुछ के नाम भी मंदिरों में अंकित मिलते हैं। गुजरात में स्थित बहुसंख्यक जैन मंदिरों को मुस्लिम आक्रान्तओं ने नष्ट कर डाला था।[132] किन्तु इन पुरातात्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन

समाज में जैन धर्म जनसामान्य में पर्याप्त लोकप्रिय था। राजाओं, सामन्तों एवं समाज के धनी वर्ग के संरक्षण एवं प्रोत्साहन ने जैन मंदिर स्थापत्य को न केवल विकसित किया अपितु विविध धार्मिक सम्प्रदायों के मध्य सामञ्जय स्थापित करने के लिए कला को प्रमुख माध्यम भी बनाया गया। मंदिरों के सुस्पष्ट पुरातात्विक साक्ष्य इन उदाहरणों के रूप के देखे जा सकते हैं।

संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. कुवलयमाला 95.7 ।
2. तत्रैव, 95.8-9 ।
3. भारतीय पुरातत्व विभाग के महानिदेशक का वार्षिक विवरण, 1902-3 प्लेट, 34. ।
4. मालवीय बद्रीनाथ, 1960-विष्णु धर्मोत्तर में मूर्तिकला
5. तत्रैव, पृ. 30
6. उ.-कुव.इ., पृ. 123
7. कादम्बरी, अनु. 139
8. हर्ष. पृ. 158
9. कुवलयमाला 120, 15, 16 ।
10. जै.-भा. सं. यो., पृ. 348 ।
11. जै.-भा. सं. यो.-पृ. 354, 55
12. अकोटा ब्रोन्जेज-उमाकान्त शाह
13. *रिसर्चर,* 1 पृ. 18.
14. *कुवलयमाला,* 93-17.18
15. उ. त्कुव, ई., पृ. 122
16. *रामायण,* सुन्दरकाण्ड, 18, 14, 4
17. तत्रैव *अयोध्याकान्ड़* 15, 8
18. 'स्वालंकृता: समाकन्या:; द्रोण पर्व, 58, 20
19. *ललितविस्तर,* अध्याय 7, पृ. 61
20. उ.-कुव. इ., पृ., 122,
21. *कुवलयमाला* 97.2
22. तत्रैव-249, 19,
23. हर्षचरित्र- पृ. 144
24. अष्टाध्यायी 6.7.74
25. *बुद्धचरित्र,* 5-22
26. अ.-छ. अ., पृ. 62

27. *रघुवंश*-16-17

28. अ. का सां आ, पृ. 32

29. *कुवलयमाला* 34.28 (जिण-व्यणं झायंता अण्णे पडिमा-गया मुणिणो-34.28

30. ध्यान योगस्थ संसिद्धयै प्रतिमा: परिकल्पिता: ।

31. द्रष्टत्य, शु.-भा. स्था., पृ. 456

32. विद्या-प्रकाश- *खजुराहो*, पृ. 141

33. कलकत्ता इण्डियन म्यूजियम-भरहुत स्तम्भ 110 के पास ।

34. वही भरहुत स्तम्भ 210 तथा 170 के पास

35. रायगोविन्द चन्द-*प्राचीन भारत मे लक्ष्मी, प्रतिमा* अध्याय 6, 8 तथा 9 ।

36. त्रिपाठी लक्ष्मी कान्त-*लक्ष्मी एण्ड सरस्वती*-पृ. 160- पेपर'-सेमीनार-आन लक्ष्मी एण्ड सरस्वती-एडी. डी. सी. सरकार

37. *समराइच्च कहा* 4, पृ. 355, 356, 58, 361, 6 पृ. 521

38. तत्रैव 4. पृ. 355, 360, 61

39. अग्रवाल वासुदेव शरण– *लोकधर्म* पृ. 8, 1

40. *इपि. ६ इण्डिका* 18, पृ. 330–भगवतो नारायण्स्य शैली प्रतिमा भक्तानाम् ।

41. लालता प्रसाद- *सन वर्शिप इन ऐंसियन्ट* इन *इण्डिया*, पृ. 18. 8.

42. *इन्सक्रिप्सन इडिकेरम*, 3 पृ.-81

43. *सचाऊ* 1, पृ. 117

44. विद्या प्रकाशन-*खुजराहो* पृ. 340 ।

45. उन्निथन, एन. जी, *रैलिक्स ऑव जैनिज्म*–आलतूर' जर्नल इण्डियन हिर्स्ट्री, इन 44 भाग 1 अप्रैल 1966, पृ. 542

46. शाह यू. पी. बिगनिंग्स आव जैन आइकनोग्राफी संग्रहालय पुरातत्व प्रत्रिका अं 9, जून 1972, पृ. 21

47. शाह यू. पी. 'ए युनीक जैन इमेज ऑव जीवान्त स्वामी' जर्नल आरियण्टल इन्स्टीटयूट, खं 1, अं 1, सितम्बर 1951, पृ. 72, 79 शाह, साइड़ लाइट्स आन दि लाईफ टाइम सेण्डल वुड इमेज ऑव महावीर' जर्नल ओरियण्टल इस्टीट्यूट, खं. 1 अं 4, जून 1952, पृ. 358-68 शाह 'श्री जीवन्त (गुजराती), जैन सत्यप्रकाश वर्ष 17, अं 5-6, पृ. 98-109, शाह अकोटा ब्रोन्जेज, बम्बई 1859, पृ. 26-28

48. शाह यू. पी. 'एक यूनीक जैन इमेज ऑव जीवंत स्वामी' पूर्व निदिष्ट, खं 1, अं. 1 पृ. 79,

49. शाह यू. पी., अकोटा ब्रोन्जेज, पृ. 26-28, फलक 9 ए, बी, 12 ए ।

50. कामदत्तो जिनागार पुंरे लोकप्रवेशने ।

मृग्हवजस्य प्रतिमां सन्यधान्महिषस्य ॥

अत्रैव कामदेवस्य रतेश्च प्रतिमों व्याघात् ।
जिनागारे समायाताः प्रजायाः कौतुकाय सः ॥
कामदेव रतिप्रेक्षाकौतुकेन जगज्जनाः ।
जिनायतनमागत्य प्रेक्षय तत्प्रतिमादृयम ॥
संविधान कमा कर्ण्य तद्भद्क मृगध्वजम
वहवः प्रतिपद्यन्ते जिन धर्मं महद्र्धिकम ॥
प्रसिद्धं च गृह जैन कामदेवगृहाख्याया ।
कौतुकागतलोकस्य जातं जिनमाताप्तये ॥- *हरिवंश पुराण* 29.15 *(हरिवंश पुराण)* सं. पन्नालाल जैन, ज्ञान पीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रंथ माला, संस्कृत ग्रंथांक 27)

51. *हरिवंश पुराण* 29.9.10
52. *कुवलयमाला* 7.18
53. तत्रैव 31.22, 103, 4, 140, 2
54. तत्रैव 199.30
55. तत्रैव 7.16
56. तत्रैव 7.15
57. तत्रैव 31.19
58. तत्रैव 92.25
59. तत्रैव 97.7
60. तत्रैव 7.17
61. तत्रैव 96.33
62. तत्रैव 97.15
63. तत्रैव 97.2
64. तत्रैव 25.7
65. द्रष्टव्य, अ.-का. सां अ., पृ. 92
66. *कुवलयमाला* 25.8.9
67. तत्रैव 25.8
68. *कुवलयमाला* 73.8
69. तत्रैव 783.7
70. तत्रैव 238.7

71. कुमारस्वामी, *एन्शेण्ट इडियन आरकीटेक्चर* पैलेस का चित्र ।

72. सान्द्रकुतुहालानां पर सुन्दरीषा मुखैः गवाक्षाः व्याप्तान्तरा—रघुवंश 11.75

73. कुमार स्वमी, *इंडियन एण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, चित्र* 154

74. कुमार स्वामी, *एन्शेण्ट इंडियन आर्कीटेक्चर* पैलेसेज ।

75. *कुवलयमाला,* 28.5

76. तत्रैव 232.27

77. तत्रैव 25.9

78. अ. का. सां. अ., पृ. 39

79. अ. ह. अ. पृ. 210 पर उद्धृत

80. *कुवलयमाला* 59.21

81. तत्रैव 59.26

82. तत्रैव 36.17

83. तत्रैव 249.17

84. तत्रैव 249.17

85. तत्रैव 249.17

86. तत्रैव 47.10

87. तत्रैव 47.15

88. तत्रैव 232.29

89. तत्रैव 97.4

90. तत्रैव 25.8

91. तत्रैव 199.29

92. तत्रैव 31.24

93. तत्रैव 7.15

94. तत्रैव 169.15

95. तत्रैव 173.31

96. तत्रैव 91.6

97. तत्रैव 163.19

98. तत्रैव 170.22

99. तत्रैव 7.15

100. तत्रैव 31.19

101. तत्रैव 96.29

102. मंजोएसु महुर-पलावे जंत-सउणए 83.6

103. *कुवलयमाला* 94.31

104. *कुवलयमाला* 8.10

105. तत्रैव 50.11

106. द्रष्टव्य अ.-का.सां अ. पृ. 215

107. *कुवलयमाला* 8.28

108. यश., सं. 530

109. *संमरांगणसुत्रधार* 31.117.142

110. *कुमारपाल चरित्र* 4.26

111. द्रष्टव्य, अ.-का सां अ., पृ. 215

112. *समरांगण सूत्रधार* 31.163,

113. *कुवलयमाला* 94.31

114. लॉ, बी. सी. इडियां ऐज गस्क्रिइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट्स ऑव Budhism and Jainism, London, 1941, पृ. 139 तथा आगे।

115. अग्रवाल, वी. एस., भारतीय कला, वाराणसी, 1977, द्वि. संरक्षक, पृ. 187-95;

116. स्मिथ, बी. ए., दि जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वटीज़ ऑव मथुरा, दिल्ली, 1969, पुनर्मुद्रित संस्करण, पृ. 1-6।

117. शिवराममूर्ति, सी; पैनोरमा ऑव जैन आर्ट, नई दिल्ली, 1983, पृ. 35, चि. सं. 35।

118. ब्राडन, पार्टी, इण्डियन आर्कीटेक्चर, बम्बई, 1959 (भारतीय संस्करण), पृ. 63।

119. वही, पृ. 53।

120. वही, पृ. 75।

121. वही, पृ. 75।

122. ब्राउन, पर्सी, पूर्वोदृत, पृ. 75।

123. शिवराम मूर्ति, सी, पूर्वोद्धृत, पृ. 14, चि 6, पृ. 184, 209, चि. 299, चि. 302, पृ. 329, चि. 511; द. भारत के बहुसंख्यक जैन मंदिर एवं मूर्तियों के सुन्दर चित्रों के लिए यह पुस्तक दृष्टव्य है।

124. कृष्णदेव, टेम्पिल्स ऑव खुजराहो, खण्ड1, नई दिल्ली, 1990, पृ. 250 खण्ड 2, चि. 114।

125. वही, पृ. 11।

126. कृष्ण देव, प्रवोक्ति, पृ. 210 तथा आगे, खण्ड 2, चि. 93-951

127. वही, पृ. 56 तथा आगे, खण्ड 2, चि. 43-52।

128. कृष्णदेव, उत्तर भारत के मंदिर, नई दिल्ली, द्रिमंस्क., 1986, पृ. 28।

129. वही पृ. 29; कुमारस्वामी, ए.के. हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियका आर्ट, न्यूयार्क 1965, पृ. 111।

130. कृष्णदेव, पूर्वोक्त, पृ. 29।

131. वही, पृ. 29।

132. कुमारस्वामी, पूर्वोक्त, पृ. 111।

अध्याय 5

उपसंहार

जैन कथा साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखकों ने लोक प्रचलित कथाओं को आधार बनाकर उन्हे जैन धर्म के ढाँचे में ढाला है और धर्म-प्रचार के निमित्त एक नवीन रूप प्रदान कर श्रेष्ठ कथाओं का सृजन किया है। इन कथाओं की रचना के पीछे कथाकारों का मुख्य उद्देश्य धार्मिक सिद्धान्तों का प्रति पादन करना था। समराइच्च कहा में धर्मकथा के उद्देश्य से अवन्ति राज समराचित्य के रचित का वर्णन किया गया है। वासुदेव हिण्डी में श्रृंगार कथा के बहाने धर्म कथा का ही निरूपण है कुवलयमाला में बीच में कामशास्त्र की चर्चा आती है किन्तु इस को आक्षेपिणी धर्म कथा कहा जा सकता है।

सामान्य रूप से प्राकृत जैन कथाओं और बौद्ध पालि जातक कथाओं में सादृश्य देखने को मिलता है। पालि कथाओं में पूर्वजन्म कथा का मुख्य भाग रहता है इसके विपरीत प्राकृत कथाओं में यह केवल उपसंहार का कार्य कार्य करता है बौद्ध जातक कथाओं में एक प्रकार की रुढ़िवादी शैली की भरमार है परन्तु जैन प्राकृत कथाओं में विविधता देखने को मिलती है। प्राकृत कथा कार अपने सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से प्रतिष्ठापित नहीं करते बल्कि पात्रों के कथोप कथन और शील निरूप आदि के द्वारा सिद्धान्त की अभिव्यंजना करते हैं। प्राकृत कथाकार अपने पात्रों को सीधे नैतिक नहीं दिखलाते। चरित्र विकास के लिये ये किसी प्रेमकथा अथवा अन्य किसी लोक कथा के द्वारा उनके जीवन की विकृतियों को उपस्थित करते हैं। एक दीर्घ संघर्ष के पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केवली को प्राप्त करता है और उनके सम्पर्क से उसके जीवन में नैतिकता का प्रवेश होता है कथा मनोरंजन के साथ आगे बढ़ती है।

प्राकृत कथाओं की एक अन्य विशेषता यह है कि कथा में आये हुए प्रतीकों की उत्तरादर्ध में व्याख्या कर दी जाती है। उदाहरणार्थ वासुदेव हिण्डी का इब्मयुक्त कहाणयं का उपसंहार अंश उद्धत किया जाता है—

अयमुपसंहारो-जहां सा गणिया, तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई, तहा सुर-मणुय सुहभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि तहा देसविरतिसहियाणि तवोवहाणाणि। जहा सो इब्मपुत्तो, तहा मोक्खकंखी पुरिसो। जहा परिच्छा को सल्लं, तहा सम्मन्नाणं। जहा रयणणय पींढ, तहा सम्मद्दसंणं। जहां रयणाणि, तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणियोगो, तहा निव्वाणसु हलाभोत्ति [1] विण्टरनित्स के अनुसार- "जैनों का कथा साहित्य सचमुच में विशाल है। इसका महत्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्य के विद्यार्थी के लिये ही नहीं हैं, बल्कि साहित्य की अन्य शाखाओं की अपेक्षा हमें इसमें जन साधारणा के वास्तविक जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओं की भाषा और जनता की भाषा में अनेक साम्य हैं, उसी प्रकार उनका वर्ण्य विषय भी विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं और पुरोहितों का जीवन ही इस कथा साहित्य में चित्रित नहीं हैं, अपितु साधारण व्यक्तियों का जीवन भी अंकित हैं।[2]

"अनेक कहनियों, दृष्टान्त-कथाओं, परिकथाओं में हमे ऐसे विषय मिलते हैं, जो भारतीय कथा साहित्य में पाये जाते हैं और इनमें से कुछ विश्व साहित्य में भी उपलब्ध हैं[3]

"प्राचीन भारतीय कथाशिल्प के अनेक रत्न जैन टीकाओं कथा साहित्य के माध्यम से हमें प्राप्त होते हैं। टीकाओं में यदि इन्हे सुरक्षित न रखा जाता तो ये लुप्त हो गये होते। जैन साहित्य ने असंख्य निजन्धरी कथाओं के ऐसे भी मनोरंजक रूप सुरक्षित रखे हैं, जो दूसरे स्रोतों से जाने जाते हैं।[4]

हर्टेल प्राकृत कथाओं की विशेषताओं से अत्यन्त आकृष्ट हैं। इन्होंने इस साहित्य की महन्ता का उल्लेख करते हुये बताया है—

"कहानी कहने की कला की विशिष्टता जैन कहानियों में पाई जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के रस्म-रिवाज को पूर्ण सच्चाई के साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कहानियाँ जन साधारण की शिक्षा का उदगम स्थान ही नहीं हैं, वरन् भारतीय सभ्यता का इतिहास भी हैं।[5]

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का यर्थाथ ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत कथा साहित्य बहुत उपयोगी है। जन साधारण से लेकर राजा-महराजाओं तक के चरित्र को जितने विस्तार और सूक्ष्मता के साथ प्राकृत कथाकारों ने चित्रित किये हैं, उतना अन्य भाषाओं के कथाकारों ने नहीं। निम्नश्रेणी के व्यक्तियो का यथार्थ चित्रण इस साहित्य में उपलब्ध है। भाव, विचार घटना, चरित्र और प्रभावान्वित की दृष्टि से ये कथायें प्रथम श्रेणी में स्थान प्राप्त करने के योग्य हैं। जीवन में जितनी समस्यायें और परिस्थितियां आती हैं जिनसे नाना प्रकार के सत्य और सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं, उनका यथेष्ट समावेश इन कथाओं मे पाया जाता है।

प्राकृत की स्वतन्त्र कथा कृतियों में पात्रों की क्रियाशीलता और वातावरण की सजावट नाना प्रकार की भावभूमियों का सृजन करने में सक्षम हैं। प्राकृत कथाकारों में यह गुण प्राय: सभी में पाया जाता है कि वे पाठक के समक्ष जगत का वास्तविक चित्रण कर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करने वाला कोई सिद्धान्त उपस्थित कर देते हैं। अत: जैन कथा साहित्य कथा उपकरणों की दृष्टि से परिपूर्ण है।

प्राकृत कथाओं का स्वतन्त्र रूप से विकास तरंगवती से आरम्भ होता है। हरिभद्र ने तरंगवती और वासुदेवहिण्डी से रूपायन एवं उपादानों को ग्रहण कर अपनी महत्वपूर्ण कृति

समराइच्च कहा का प्रणयन किया है। इसमें सन्देह नही कि हरिभद्र उच्च कोटि के कथाकार हैं। जितनी मननशीलता और गम्भीरता इनमे वर्तमान है, उतनी अन्य कथाकारों में शायद ही मिलेगी। धार्मिक कथाओं के रचयिता होने पर भी जीवन की विभिन्न समस्याओं को सुलझाना और संघर्ष के घात-प्रतिघात प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है। कौतूहल और जिज्ञासा का संतुलन कथाओं मे अन्त तक बना रहता है। कथा जीवन के विभिन्न पहलुओं की अपने में समेटे हुये मनोरंजन करती हुई आगे बढ़ती है। प्रेम और लौकिक जीवन की विभिन्न समस्याएं समराइच्चकहा में उठायी गई हैं। हरिभद्र ने समस्याओं को उठाकर यों ही नहीं छोड़ दिया है, बल्कि उनके समाधान भी प्रस्तुत किये हैं।

हरिभद्र के पात्र कलात्मक दृष्टि से कथा में किसी समस्या को लेकर उपस्थित होते हैं। वे कथा के आरम्भ से लेकर उसके उपसंहार तक अपने जीवन की अनन्त पीड़ाओं के साथ उस समस्या को ढोते चलते हैं। निदान का पुट इतना घना है कि पात्रों की स्वतंत्र क्रिया शीलता नष्ट प्राय है। पात्रों का वैयक्तिक विकास कर्मजाल की सघनता और निश्चित संस्कारिता के कारण अवरूद्ध है। समस्याएं स्पष्ट रूप में सामने आती हैं, पर उनके समाधान स्पष्ट नहीं हो पाते हैं। जीवन की भूमिकाओं का आरम्भ भी यत्र-तत्र वर्तमान है। आठवें और नौवे भव की कथा में उस युग की राज्य और जीवन सम्बन्धी उलझने उपस्थित हुई हैं। कथायें अपने विकास के सभी क्रमों का स्पर्श करते हुए चलती हैं। इतिवृत्तियों का जमघट अधिक रहने पर भी कथा प्रवाह में कोई त्रुटि नही आने पायी है। कथानकों की मोड़ें रोचकता उत्पन्न करने में सहायक हैं। अवान्तर कथाएं निदान की पुष्टि के लिए ही आयी हैं।

आठवीं शताब्दी के प्राकृत कथा साहित्य में दो प्रमुख स्थापत्यों का श्री गणेश हुआ है—धर्मकथा और प्रेमकथा 'लीलावई' नामक प्रेमकथा लिखकर विशुद्ध प्रेमाख्यान परम्परा का आविर्भाव किया है। प्रेम की विभिन्न दशाओं का विवेचन जितनी मार्मिकता और सूक्ष्मता के साथ इस ग्रन्थ में पाया जाता है, उतनी मार्मिकता के साथ प्राकृत कथाओं की तो बात ही

क्या, संस्कृत कथाओं मे भी नही मिलता है। धर्मकथा के क्षेत्र में समराइच्चकहा बेजोड़ हैं। इसकी मोलिक उद्‌भावनायें उत्तरवतीकथा साहित्य के लिए आदर्श रहीं हैं। दण्डी, सुबन्धु और बाण भट्ट की दरबारी अलंकृत कथा शैली का परित्याग कर हरिभद्र ने सुसंस्कृत बुद्धिवालों के लिए परिष्कृत शैली अपनायी है। समराइच्चकहा ने धर्म-कथा शैली की प्रौढ़ता प्रदान की, जिससे यह शैली उततरवत्तीलेखकों के लिए भी आदर्श रही। हरिभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि ने समराइच्चकहा के कथाशिल्प के आधार पर कुवलयमाला जैसी सर्वोत्कृष्ट रचना लिखी है। इसमें सन्देह नही कि उद्योतन सूरि की यह कृति अनुपम है। कला की दृष्टि से इसकी समकक्षता करने वाली प्राकृत में कोई रचना नही है। संस्कृत में किन्ही बातों के आधार पर कादम्बरी को इसकी तुलना में उपस्थित किया जा सकता है।

जैन कथाओं में कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, द्रव्य, गुण तत्व, धर्मोप देश प्रभृति के साथ कथा रस विद्यमान है। कथा का विकास विरोध और द्वन्दों के बीच होता है।

हरिभद्र की लघुकथाओं में दृष्टान्त या उपदेश कथायें आती हैं। इस श्रेणी की कथाओं के सभी पात्र प्रायः मनुष्य ही होते हैं और घटनाओं में किसी उपदेश या सिद्धान्त का समर्थन रहता है। दृष्टान्त कथाओं में किसी उपदेश या सिद्धान्त का समर्थन रहता है। हरिभद्र की इन दृष्टान्त कथाओं में कथा वस्तु का स्थान मुख्य है।

उद्योतनसूरिकृत कुवलयमाला कहा प्राकृत साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आठवीं शताब्दी के सामाजिक-जीवन का यथार्थ चित्र उद्योतन सूरि ने प्रस्तुत किया है। श्रौत स्मार्त वर्ण व्यवस्था उस समय व्यवहार में स्वीकृति नहीं थी। ब्राहमणों की श्रेष्ठता होने पर भी उनकी क्रियाएं शिथिल हो रही थीं।

शूद्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से प्रगति कर रहे थे। क्षत्रियों के लिए ठाकुर शब्द प्रयुक्त होने लगा था। जातियों का विभाजन हिन्दू जैन आदि धर्मों के आधार पर न होकर

आर्य-अनार्य संस्कृति के आधार पर था। प्रादेशिक जातियों में गुर्जर, सोरटठ, मरहट्ठ आदि अस्तित्व में आ रही थीं। विदेशी जाति हूण का क्षत्रिय और शूद्रों में विलय हो रहा था। उद्योतन ने तज्जिकों के उल्लेख द्वारा अरबों के प्रवेश की सूचना दी है। जैन कथाओं के अनुसार विवाह में चार फेरे ही लिए जाते थे। तत्कालीन ग्रामों का सामाजिक जीवन सरल था।

कुवलयमाला से तत्कालीन समाज मे व्यवहृत 45 प्रकार के वस्त्रों 40 प्रकार के अलंकारों का पता चलता है। दुकूल का जोड़े के रूप में प्रयोग होने लगा था। नेत्रपट के दुकूल बनने लगे थे। गंगापट जैसी विदेशी शिल्क भारतीय बाजारों मे आ गई थी।

अमीरों द्वारा हंस गर्म, कूर्पासक, रल्लक एवं निर्धनों द्वारा कंथा, चीर आदि वस्त्रों का प्रयोग होता था। अलंकारो एवं प्रसाधनों के उल्लेख से स्पष्ट है कि अभिजात्य समाज का चित्रण कथाकारों को अधिक प्रिय था। श्रेष्ठि वर्ग का तत्कालीन राज्यव्यस्था में भी प्रभाव था।

समाज की यह समृद्धि वाणिज्य एवं व्यापार की प्रगति पर आधारित थी। अच्छे-बुरे प्रकार के साधन धनोपार्जन के लिए प्रचलित थे। देशान्तर गमन, सागर-सन्तरण एवं साझेदारी व्यापार में दुहरा लाभ प्रदान करती थी। स्थानीय व्यापार में विपणि मार्ग और मण्डियाँ क्रय-विक्रय के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में विजयपुरी, उत्तर में वाराणसी एवं पश्चिम में सोपारक और प्रतिष्ठान देशी-विदेशी व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। सोपारक में 18 देशों के व्यापारियों का एकत्र होना एवं 'देसिय-वणिय-मे लीए' (व्यापारी मण्डल) का सक्रिय होना इस बात का प्रमाण है। साहसी सार्थवाहों ने जल-थल मार्गो द्वारा न केवल भारत में अपितु पड़ोसी देशों से भी सम्पर्क स्थापित किये थे। आयात निर्यात की वस्तुओं में अश्व, गजपोत नील गया महिष का सम्मिलित होना तत्कालीन आर्थिक व्यापारिक क्रिया कलापो को सूचित करता है। दूर देशों की यात्रा करते समय पूरी तैयारी के साथ निकला जाता था। समुद्र यात्रा के प्रसंग भी मिलते हैं।

जैन कथाएँ श्रमण संस्कृति की पोषक कथाएँ है। अधिकांश कथाएँ निवृत्ति प्रधान हैं। मनुष्य कर्म के प्रभाव के फलस्वरूप विभिन्न योनियों में अनंत काल तक भ्रमण करता है। धन-धान्य तथा बन्धु बान्धव उसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं। सांसारिक विषय भोगों से तृष्णा के कारण उसकी तृप्ति नहीं होती है। कर्मभार से प्रेरित होकर उस में शोक व्याप्त होता है। आत्म दमन करने अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करने और संसार के माया मोह का त्याग करने से शाश्वत और अनुपमेय निर्वाण सुख की प्राप्ति हो सकती है। कहानियों के माध्यम से संसार की निस्सारता संदेश जन सामान्य तक पहुँचाने की चेष्टा की गई है। जैन कहानियों में अहिंसा, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य कर्मसिद्धान्त आदि को मुख्यतः प्रतिपादित किया गया है। कतिपय कहानियों में यज्ञ याग में होने वाली हिंसा की निन्दा करके अहिंसा का प्रतिपादन कथाओं के माध्यम से किया गया है, संक्षेप में जैन धर्म का उपदेश कहा साहित्य का प्रमुख अंग है। जिन मूर्तियों का दर्शन, पूजा, साधुवंदन स्वाध्याय, जीव दया तथा संसार की अनित्यता युक्त कहानियाँ मिलती हैं।

धार्मिक जगत का वैविध्यपूर्ण चित्रण जैन कथा साहित्य में किया गया है। शैव धर्म के कापालिक, महा भैरव, आत्मवधिक गुग्गल धारक, कारूणिक आदि सम्प्रदाय, अर्द्धनारीश्वर महाकाल, शशिशेखर रूप शिव तथा रूद्र, स्कन्द, गजेन्द्र विनायक आदि कात्यायनी और कोट्टजा देवियाँ शैवों द्वारा पूजित थी। धार्मिक मठों में अनेक देवताओं की पूजा-अर्चना एक साथ होती थी। पौराणिक धर्म अधिक उभर रहा था। विनयवादी, ईश्वर वादी विचारकों के अतिरिक्त तीर्थ बन्दना के समर्थकों की संख्या बढ़ रही थी। गंगा स्नान एवं पुष्कयात्रा पुण्यार्जन का साधन होने से प्रायश्चित के प्रमुख केन्द्र माने जाते थे। वैष्णव धर्म में भक्ति की प्रधानता थी। गोविन्द, नारायण, लक्ष्मी इस धर्म के प्रमुख देवता थे। ब्रहमा की स्थिति गौण हो चली थी।

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन की हीन यान शाखा का उद्योतन ने उल्लेख किया है। लोकायत दर्शन के प्रसंग में 'अकाश' तत्व का उल्लेख पंचभूत के प्रभाव का परिणाम है। जैन धर्म को अनेकान्तदर्शन कहा जाता था। सांख्य कारिका का पठन-पाठन सांख्य दर्शन के अन्तर्गत होता था। त्रिदण्डी, योगी एवं चरक इस दर्शन का प्रचार कर रहे थे।

दूसरी ओर कुछ सांख्य आलोचक भी थे। वैशेषिक दर्शन के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि कणाद-प्रणीत 'वैशेषिक सूत्र का पठन-पाठन होता था। मीमांसा-दर्शन के अन्तर्गत कुमारिल की विचार धारा अधिक प्रभावशाली थी। वेदान्त और योग दर्शन का पृथक उल्लेख नहीं मिलता न्यायदर्शन के 16 पदार्थो का वाचन किया जाता था। अन्य धार्मिक विचारकों मे पंडर भिक्षुक, अज्ञानवादी, चित्र-शिखंडि, नियतवादी आदि भी अपनी अपनी विचार धाराओं का प्रचार कर रहे थे।

मूर्ति पूजा का व्यापक प्रचलन था। तीर्थकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। यक्ष और विद्याधरों से सम्बन्धित अनेक उल्लेख जैन कथाओं में मिलते है। तांत्रिक पूजा का भी जैन धर्म में समावेश हो गया था। चक्रेश्वरी और ज्वालामालिनी की उपासना की लोकप्रियता को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता हैं कि प्राकृत जैन कथा साहित्य का अनुशीलन आठवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य की भारतीय संस्कृति को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इन कथाओं में लोक जीवन एवं धर्म का जैसा यथार्थवादी चित्रण प्राप्त होता है, वैंसा संस्कृत साहित्य तथा पाली बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता है। धर्म तथा नीति का उपदेश मनोरंजन कथाओं के माध्यम से दिया गया है। जैन धर्म तथा उसके अहिंसा मूलक सिद्धान्तों का प्रतिबिम्ब कथाओं में दृष्टिगोचर होता है।

संदर्भ

1. वासुदेव हिण्डी, पृ. 4।

2. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, पृ. 545।

3. तत्रैव, पृ. 523।

4. तत्रैव, पृ. 487।

5. आन दी लिटरेचर ऑव दी श्वेताम्बरास ऑव गुजगत् पृ. 8।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मौलिक ग्रन्थ

1. अमरसिंह (1971) अमरकोश (प्रो. रामनाथन द्वारा आलोचित एवं सम्पादित) आड्यार मद्रास।

2. उपाध्याय ए. एन. द्वारा सम्पादित कुवलयमाला कहा (प्र. संस्करण 1959, द्वि संस्करण 1970) भारतीय विद्याभवन, बम्बई।

3. जिनेश्वर सूरि (1949) कथाकोश प्रकोरण सिंधी जैन ग्रन्थ माला, विधाभावन, बम्बई।

4. जिनसेन (1951) आदिपुराण (भाग-2) भारतीय ज्ञानपीठ, कारी।

5. धनपाल (1923) भविसयत्तकहा, गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरिज XX।

6. रामचन्द्र मुमुक्षु (1964) पुण्याश्रवकथाकोश (ए. एन. उपाध्याय एवं एच. एल. जैन द्वारा सम्पादित) जैन संस्कृति संरक्षण संघ, शोलापुर।

7. रामायण (१९०५) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

8.वासुदेव हिण्डी सम्पादन आत्मानंद सभा, भावनगर।

9. सिद्धर्षि सूरि (1899) उपमिति भवप्रपञ्चकहा (पी. पैटर्सन द्वारा सम्पादित), कलकत्ता।

10. सोमदेव सूरि (1960) यशस्तिलक चम्पू (सुन्दर लाल शास्त्री द्वारा अनुवादित और सम्पादित), वाराणसी।

11. सोमदेव (1887-88) नितिवाक्यामृतम, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

12. संघदासमर्णा (1933–38)वृहत्कल्पभष्य, भवनगर।

13. हेमचन्द्र (1964) अभिधानचिन्तामणि (भाग-2) चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

14. हरिभद्रसूरि (1926) समराइच्चकहा (एच. जैकोबी द्वारा सम्पादित।

15. श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, पातञ्जल योगप्रदीप (संस्करण द्वितीय) गीता प्रेस, गोरखपुर।

16. श्रीभदभगवदगीता (संस्करण चौतीसवां) गीताप्रेस, गोरखपुर

सहायक ग्रन्थ

1. अग्रवाल, वासुदेव (1953) हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, रास्ट्र भाषा परिषद् पटना।
2. अग्रवाल वी. एस. (1964) प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद।
3. अग्रवाल, वी. एस. (1977) द्वि. सं., भारतीय कला, वाराणसी।
4. अल्तेकर, ए. एस. (1967) रास्ट्रकूट एण्ड दियर टाइम्स, पूना।
5. उपाध्याय, वी. (1964) सोसियो रिलिजस कन्डिशन्स ऑव नॉरदन इण्डिया, वाराणसी।
6. उपाध्याय, वासुदेव (1966) पूर्वमध्यकालीन भारती प्रकाशन प्रयाग।
7. उपाध्याय, रामजी (1966) प्राचीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा, इलाहाबाद।
8. एम. हिरियन्ना (1965 प्र. सं., 1973 द्वि. सं.) भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
9. ओझा, जी. एच. (1937) राजपुताने का इतिहास (भाग-1) अजमेर।
10. काणे, पी. वी. (1973) धर्मशास्त्र का इतिहास, (भाग 4) (अर्जुन चौबे द्वारा अनुवादित), राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन, लखनऊ।
11. कृष्णदेव (1990) टेम्पिल्स ऑव खजुराहो, दिल्ली।
12. कृष्णदेव (1987) उत्तरभारत के मंदिर, नई दिल्ली।
13. कुमार स्वामी, ए. के. (1965) हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड, इण्डोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क।
14. गोपाल, एल. (1965) द इकोनोमिक लाइफ ऑव नॉरदन इण्डिया, वाराणसी।
15. जैन, जगदीश चन्द्र (1961) प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
16. जैन, जगदीश चन्द्र (1947) लाइफ इन एनशेन्ट इन्डिया एज डेपिक्टेड इन द जैन कैनन्स, बम्बई।

17. जैन, जगदीश चन्द्र (1967) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, चौखम्बा, वाराणसी ।

18. जैन, एच. एल. (1963) प्राचीन भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल ।

19. जैन, ज्योतिप्रसाद (1964) द जैन सोर्सेज ऑव द हिस्ट्री ऑव एन्शेण्ट इण्डिया दिल्ली ।

20. जैन, गोकुल चन्द्र (1987) जैन' विद्या एवं प्राकृत, वाराणसी ।

21. जैन, गोकुलचन्द्र (1966) यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी ।

22. जैन, श्री चन्द्र (1975) जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, जयपुर ।

23. जैन, के. सी. (1963) जैनिजम इन राजस्थान, शोलापुर ।

24. जैन, पी. एस. (1975) कुवलय माला का सांस्कृतिक अध्ययन, जैन शास्त्र एवं अंहिसा शोध संस्थान वैशाली ।

25. पाण्डेय गोविन्द चन्द्र (1976) बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास (सं. द्वि.) हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ ।

26. बाशम, ए. एल. (1967) अदभुत भारत, दिल्ली ।

27. बाजपेयी कृष्णदत्त (1951) भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा ।

28. ब्राउन पर्सी, (1959) इण्डियन आर्किटेक्चर, बम्बई ।

29. भट्टाचार्य, बी. सी. (1939) जैन आईकोनोग्राफी लाहौर ।

30. मुंशी, के. एम. (1954) गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, बम्बई ।

31. मोतीचन्द्र (1949) जैन मिनिएचर पेंटिग्ज इन वेस्टर्न इण्डयिा, अहमदाबाद ।

32. मजूमदार, ए. के. (1956) चालुक्य ऑव गुणरात, बम्बई ।

33. यादव, झिनक् (1977) समराइच्चकहा एक सांस्कृतिक अध्ययन, भारती प्रकाशन वाराणसी ।

34. राय, यू. एन. (1965) प्राचीन भारत मे नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद ।

35. शास्त्री, कैलाश चन्द्र (1965) उपसकाध्ययन, काशी ।

36. शास्त्री, नेमिचन्द्र (1966) प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, वाराणसी ।

37. शास्त्री, नेमिचन्द्र (1965) हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, प्राकृत जैन शास्त्र एवं अंहिसा शोध संस्थान वेशाली, मुजफ्फरपुर ।

38. लॉ बी. सी. (1941) इण्डिया ऐज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्टस ऑव बुद्धिज़म एण्ड जैनिज़म, लदंन ।

39. शिवराममूर्ति सी. (1983) पैनोरमा ऑव जैन आर्ट, नई दिल्ली ।

40. स्मिथ वी. ए (1969) दि जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्विटीज ऑव मथुरा, दिल्ली ।

41. हीरालाल, जैन शिलालेख संग्रह, भाग-१ मणिक चन्द्र जैन ग्रन्थ माला, बम्बई ।

42. त्रिपाठी छविनाथ (1965), चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक अध्ययन, वाराणसी ।

शोध पत्रिकाएँ

1. इण्डियन एंटिक्वेरी ।

2. एपिपग्राफिया इंडिका ।

3. जर्नल ऑव ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट पूना 1965 ।

4. जर्नल ऑव द जी. एन. इना रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।

5. जैन एन्टिक्वेरी ।

6. जर्नल ऑव गुजरात रिसर्च सोसाइटी, अहमदाबाद, । 1960

7. जर्नल ऑव रायल एशियाहिक सोसाइटी कलकत्ता, 1915 ।

8. जैन जर्नल, कलकत्ता 1970 ।

9. जैन साहित्य संशोधक पूना, 1927 ।

10. जैन सिद्धान्त भास्कर ।

11. जर्नल ऑव द यू. पी. हिस्टोरिकल सोसाइटी ।

12. यूनिवर्सिटी ऑव इलाहाबाद स्टडीज ।

13. जामखेदकर, ए. पी. (1984) वासुदेव हिण्डी, आगम कला प्रकाशन, दिल्ली ।

14. चौधरी गुलाबचन्द्र (1973) जैन साहित्य का वृहद्इतिहास, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान ।